हिन्दी-आलोचना का विकास

हिन्दी-आलोचना आज एक स्वतंत्र और समृद्ध गद्य विधा के रूप में स्वीकृत है। अन्य गद्यविधाओं की तरह 'आलोचना' का विकास भी आधुनिक काल में भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय आचार्य काव्य-सौन्दर्य के विधायक तत्त्वों का निरूपण नहीं कर सके थे। वस्तुतः भारतीय आचार्यों ने काव्य के सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों को लक्षित और परिभाषित करने के प्रयत्न में स्वतंत्र सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना की थी। वे काव्य-शास्त्र निर्माता थे। कवि-विशेष या कृति-विशेष के रचना-सौष्ठव के विश्लेषण में उनकी रुचि नहीं थी। उन्होंने रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्तिं, औचित्य और ध्वनि सिद्धान्तों की मीमांसा करते हुए काव्य के बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य के आधारभूत तत्त्वों का स्वरूप निर्दिष्ट किया था। उनकी स्थापनायें आज भी प्रासंगिक हैं और हिन्दी-आलोचना ने अपने विकास के प्रत्येक चरण में उनसे प्रेरणा और शक्ति ग्रहण की है। आधुनिक काल से हिन्दी-आलोचना का आरम्भ मानने का अर्थ यह है कि हिन्दी के साहित्य-मनीषियों में कवि-विशेष या कृति-विशेष का अध्ययन करने के बाद उसके महत्त्व और मूल्य का प्रतिपादन करते हुए स्वतंत्र रूप से प्रबन्ध या निबन्ध लिखने की शुरुआत आधुनिक काल में की है। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भ भारतेन्दु-युग से माना जाता है। अतः हिन्दी-आलोचना के स्वरूप को निर्दिष्ट करने के लिए हमें इसी युग से अपनी विचार-यात्रा आरम्भ करनी होगी।

भारतेन्दु-युग में हिन्दी-आलोचना का आरम्भ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ, किन्तु आधुनिक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण इस काल में नहीं मिलता। 'हिन्दी-प्रदीप' (1877-1910) ही एक ऐसा पत्र था जो अपेक्षाकृत गम्भीर आलोचनायें प्रकाशित करता था। पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा के रूप में प्रकाशित होने वाली आलोचनाओं के अतिरिक्त इस युग में तीन प्रकार की आलोचनाओं का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा सकता है--

1. रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में लिखित सैद्धान्तिक आलोचना
2. ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली गद्य में लिखी गयी टीकाओं के रूप में प्रचलित आलोचना
3. इतिहास-ग्रन्थों में कवि परिचय के रूप में लिखी गयी आलोचना।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत पिंगल, अलंकार, रस, नाटक तथा सम्पूर्ण काव्यशास्त्र -- इन सभी विषयों पर लक्षण ग्रन्थों की रचना की गयी। उदाहरणस्वरूप ज्वालास्वरूप कृत 'रुद्र पिंगल' (1869), उमराव सिंह कृत 'छन्द महोदधि' (1878), जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत 'छन्द : प्रभाकर' (1894) और जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' कृत 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर' (1897) इस युग में रचित उल्लेखनीय पिंगल ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार लछिराम कृत 'रावणेश्वर कल्पतरु' (1892) तथा मूरारिदान कविराज कृत 'जसवन्त-जसो-भूषण' (1897) आलोच्य युग के महत्त्वपूर्ण अलंकार-ग्रन्थ हैं। रस-ग्रन्थों में कृष्ण लाल कृत 'रस सिन्धुविलास' (1883), साहब प्रसाद सिंह कृत 'रस-रहस्य' (1887) और प्रताप नारायण सिंह कृत 'रस कुसुमाकर' (1894) उल्लेखनीय हैं। 'रस कुसुमाकर' में लक्षण स्वच्छ खड़ी

Scanned with CamScanner

बोली गद्य में दिये गये हैं। इसलिए रसशास्त्र के स्पष्ट और सुबोध ज्ञान के लिए यह ग्रन्थ महत्व का है। सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को दृष्टि में रख कर लिखे गये लक्षण ग्रन्थों में जानकी प्रसाद का 'काव्य सुधाकर' (1886) उल्लेखनीय है। नाट्यशास्त्र सम्बन्धी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति भारतेन्दु का 'नाटक' (1883) है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन नाट्यशास्त्र की जानकारी कराने के साथ ही युग-प्रवृत्ति का ध्यान रख कर प्राचीन जटिल शास्त्रीय नियमों के छूट लेने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। इन लक्षण-ग्रन्थों से दो महत्त्वपूर्ण बातें प्रकट होती हैं। एक तो ये इस बात के सूचक हैं कि किसी भी युग में शिक्षित जनता की मनोवृत्ति का प्रवाह समानान्तर कई धाराओं में हो सकता है - आलोच्य-युग में एक ओर जहाँ पत्र-पत्रिकाओं में व्यापक राष्ट्रीय हित एवं समाज-कल्याण को दृष्टि में रखकर पुस्तकों की समीक्षा की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन मूल्यों में विश्वास करने वाले कुछ विद्वान् पिंगल, नायिका-भेद, रस-निरूपण एवं अलंकार-विवेचन में प्रवृत्त थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह लक्षित करने की है कि समाज को प्रभावित करने वाली कुछ विकृतियों का उल्लेख कर देने मात्र से काव्य-समीक्षा का स्तर ऊँचा नहीं उठता। जब तक शास्त्रीय सिद्धान्तों का पुनराख्यान करके उनकी कसौटी पर नवीन कृतियों की गम्भीर एवं मार्मिक परख नहीं की जाती तब तक शास्त्रीय सिद्धान्तों की पुरानी परंपरा अलग घिसटती रहती है और सामान्य समीक्षा का प्रवाह अलग चलता रहता है।

ब्रजभाषा गद्य में लिखी जाने वाली टीकाओं की परम्परा को आलोच्य युग के पूर्व तक सरदार कवि ने जीवित रखा। उनके द्वारा रचित 'कवि प्रिया', 'रसिक प्रिया' और 'बिहारी सतसई' की टीकाएँ अधिक लोकप्रिय हुई थीं। आलोच्य-युग में 'बिहारी सतसई' पर लल्लू लाल जी की टीका 'बालचन्द्रिका' (1819) का संशोधन करके दुर्गादत्त कवि ने सन् 1864 में और पुनः ग्रियर्सन ने 1896 में प्रकाशित कराया। यह टीका ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ी-बोली गद्य में थी प्रभुदयाल पाण्डेय ने भी 1896 ई० में खड़ी बोली गद्य में 'बिहारी सतसई' की एक अच्छी टीका लिखी थी। इन टीकाओं में कहीं-कहीं उत्तम एवं सूक्ष्म काव्य-गुणों का संकेत मिल जाता है। इसलिए टीका-पद्धति की व्याख्या को भी एक प्रकार की आलोचना कहा जा सकता है। आलोच्य-युग में दो इतिहास ग्रन्थ भी लिखे गये-- शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' (1878) और जार्ज ग्रियर्सन कृत 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' (1889)। इनमें से शिवसिंह सेंगर की आलोचना-पद्धति में प्रशंसात्मक उक्तियों की बहुलता है। उदाहरण के लिए 'देव' कवि के सम्बन्ध में सरोजकार ने लिखा है 'शब्दों में ऐसी समायी कहाँ कि उनमें इनकी प्रशंसा की जाय।' इस प्रकार के वाक्यों के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह सब प्रायः सूचना मात्र है। ग्रियर्सन ने अवश्य कुछ कहने की चेष्टा की है। उनमें समीक्षा-दृष्टि का आभास मिलता है। तुलसीदास के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने इनके वस्तु-वर्णन की स्वाभाविकता को सराहा है। पात्रों के वार्तालाप के लालित्य की दाद दी है और उनके भाषाधिकार की प्रशंसा की है। किन्तु उनकी यह दृष्टि जायसी, सूर और तुलसी जैसे कुछ थोड़े से कवियों के परिचय में ही लक्षित होती है। सामान्यतः उन्होंने एक इतिहासकार की भूमिका अदा करते हुए कवियों और लेखकों का वृत्त ही प्रस्तुत किया है। अतः आलोच्य-युग के इतिहास-ग्रन्थों में दिये गये कवि-परिचयों में आलोचना के तत्त्व नहीं के बराबर हैं।

वस्तुतः भारतेन्दु-युग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज-रूप में सुरक्षित है तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं में ही है। इस क्रम में सबसे पहला उल्लेखनीय नाम बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' का है। उन्होंने श्री निवासदास कृत 'संयोगिता स्वयम्वर' और गदाधर सिंह कृत 'बंग विजेता' के अनुवाद की विस्तृत आलोचना 'आनन्द कादम्बिनी' में की थी। इसके

Scanned with CamScanner

वाद बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। भट्ट जी की 'नीलदेवी', 'परीक्षा गुरु', 'संयोगिता स्वयंवर' और 'एकान्तवासी योगी' आदि ग्रंथों की आलोचनाएँ तत्कालीन समीक्षा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखित आलोचनाएँ भी इसी परम्परा को आगे बढ़ाने वाली हैं किन्तु उनका कृतित्व बहुत कुछ द्विवेदी युग की सीमा में आता है।

सब मिलाकर कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग में आधुनिक हिन्दी-आलोचना का सूत्रपात तो हो गया था, किन्तु तत्कालीन समीक्षकों में न तो सूक्ष्म काव्य सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों को पहचानने की क्षमता थी और न रचना में निहित जीवन-मूल्यों को सौन्दर्य-तत्त्व से जोड़कर व्याख्यायित करने की शक्ति।

द्विवेदी-युग में हिन्दी-आलोचना का गम्भीर एवं तात्विक रूप तो नहीं निखरा, किन्तु उनकी कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ अवश्य विकसित हुईं। सामान्यतः इस युग में हिन्दी-आलोचना के पाँच रूप लक्षित किये जा सकते हैं-- **शास्त्रीय आलोचना** अर्थात् लक्षण ग्रन्थों की परम्परा में काव्यांग-विवेचन, **तुलनात्मक मूल्यांकन** एवं **निर्णय, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना, परिचयात्मक आलोचना** तथा **व्याख्यात्मक आलोचना**। संस्कृत-आचार्यों की पद्धति पर लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत करने की परम्परा रीति काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। आलोच्य-युग में भी इस परम्परा में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने काव्य प्रभाकर (1910) तथा 'छन्द सारावली' (1917) और लाला भगवानदीन ने 'अलंकार मंजूषा' (1916) की रचना की। 'भानु' जी ने भूमिका अंग्रेजी में लिखी है और हिन्दी के अनेक पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी दिये हैं। दीन जी ने अलंकारों की समुचित जानकारी कराने के उद्देश्य से ही उपर्युक्त ग्रन्थ की रचना की है। उन्होंने यथास्थान हिन्दी-अलंकारों के समकक्ष फारसी, अरबी और अंग्रेजी अलंकारों का भी उल्लेख किया है। इससे प्रकट है कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकों का ध्यान दोनों ही लेखकों को रहा है।

तुलनात्मक मूल्यांकन आलोच्य युगीन समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ सामान्यतः 1907 ई० में पद्मसिंह शर्मा द्वारा 'बिहारी' और 'सादी' की तुलना से माना जाता है। किन्तु यह सही नहीं है। बाबू शिवनंदन सहाय के सन् 1905 ई० में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कविता की विस्तृत समीक्षा करते हुए उनकी तुलना 'शेखर', 'पद्माकर' 'तुलसीदास' आदि कवियों से की है और उन्हें एक प्रकृत कवि के रूप में प्रस्तुत किया है। यह तुलना बहुत ही संयत और सारगर्भित है। इसलिए श्री पद्म सिंह शर्मा को तुलनात्मक आलोचना का पुरस्कर्ता नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य है कि उन्होंने तुलना को ही समीक्षा का पर्याय मान लिया और 1908 ई० से 1912 ई० तक वे 'सरस्वती' में संस्कृत और हिन्दी-कविता के बिम्ब-प्रतिविम्ब भाव की परीक्षा करते रहे। इसके बाद 1910 ई० में मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी-नवरत्न' प्रकाशित हुआ। इसमें भी तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व दिया गया। आगे चलकर तुलनात्मक आलोचना की धूम मच गयी। लाला भगवान दीन और कृष्ण बिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की विशद तुलना करते हुए एक को दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। **अन्वेषण और अनुसन्धानपरक आलोचना** का विकास 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1897) के प्रकाशन से हुआ। 'मिश्रबन्धु विनोद' (1913) में भी शोधपरक दृष्टि को महत्त्व दिया गया था और कवियों के वृत्त-संग्रह के साथ उनकी प्राप्य-अप्राप्य कृतियों की सूचना तथा उनके काव्य के सम्बन्ध में मत-प्रकाश भी किया गया था। मिश्रबन्धुओं के अतिरिक्त शोधपरक आलोचना के उन्नायकों में बाबू श्यामसुन्दर दास, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और सुधाकर द्विवेदी उल्लेखनीय हैं। इन सभी का सम्बन्ध

Scanned with CamScanner

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' से रहा। 1902 ई० में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रेरणा से जयपुर से 'समालोचक' पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसके संपादक बाबू गोपाल राम गहमरी थे। यह गम्भीर आलोचना का पत्र था। इस पत्र में समालोचनायें व्यक्ति-विशेष के नाम से न छपकर 'समालोचना-समिति' के नाम से प्रकाशित होती थीं। 'समालोचना-समिति' में श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, बाबू तोता राम, श्रीधर पाठक, विश्वनाथ शर्मा, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री, शिव प्रसाद शर्मा, बाबू मुन्नीलाल जैसे साहित्यकार थे।[1] इस पत्र का प्रकाशन अधिक दिनों तक नहीं हो सका किन्तु इससे आलोचना का स्तर निश्चित रूप से ऊँचा हुआ था।

परिचयात्मक-आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग में ही हो गया था। आलोच्य युग में 'सरस्वती' के माध्यम से इस समीक्षा-पद्धति में स्थिरता और गम्भीरता आई तथा समीक्षा का आदर्श स्थिर हुआ। परिचयात्मक आलोचनाएँ आलोच्य कृति के सामान्य परिचय, उसकी प्रशंसा या निन्दा, आलोच्य विषय या कृति के सम्बन्ध में स्वतन्त्र लेख, कृति-विशेष को किसी परम्परा या ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखने की प्रवृत्ति तथा आलोच्य विषय के प्रति भावात्मक लगाव व्यक्त करते हुए प्रभावाभिव्यंजन के रूप में लिखी गयीं। 'सरस्वती' में प्रकाशित परिचयात्मक आलोचनाएँ प्रायः महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा ही लिखी गयी हैं। द्विवेदी जी समालोचना को पत्रकारिता से अलग करके नहीं देख सके। यही उनकी दुर्बलता या सीमा थी। उन्होंने समालोचक का कर्तव्य निर्धारित करते हुए कहा था-- ' किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बाद लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय हैं। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।' द्विवेदी जी ने विषय-विवेचना के साथ ही भाषा सम्बन्धी त्रुटियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। आलोचना के क्षेत्र में उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है--'यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों और दिखायी पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती।'[2]

व्याख्यात्मक आलोचना किसी रूढ़ि का अनुसरण न करके आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों के आधार पर की जाती थी। कभी-कभी परिचयात्मक आलोचना विशद और गम्भीर होने पर व्याख्यात्मक आलोचना का रूप ले लेती थी। इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्द कादम्बिनी' में लाला श्री निवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से कर दिया था। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में 'नील देवी', 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता स्वयंवर' की गम्भीर आलोचना करके इस पद्धति को पुष्ट किया था। बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दी बंगवासी' में 'अश्रुमती' नामक बंगला नाटक के हिन्दी अनुवाद (मुंशी उदित नारायण-कृत) की आलोचना द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाया, किन्तु ये प्रारम्भिक प्रयास मात्र थे। आलोचना की इस शैली का विशद वैज्ञानिक स्वरूप आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनाओं में प्रतिष्ठित हुआ।

वस्तुतः आलोच्य-युग की उपर्युक्त सभी प्रकार की आलोचनाओं में प्रतिमान के रूप में दो

Scanned with CamScanner

दृष्टियाँ लक्षित होती हैं-- एक तो परम्परागत शास्त्रीय दृष्टि, जिसके आधार पर आलोच्य कृति का गुण-दोष विवेचन करके उसकी उत्कृष्टता या हीनता प्रमाणित की जाती थी, दूसरी नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि, जो आलोच्य कृति के व्यापक प्रभाव के परिणाम को दृष्टि में रखकर उसकी श्रेष्ठता या हीनता घोषित करती थी। जिस तुलनात्मक आलोचना ने आलोच्य युग में सबसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उसका मूल आधार शास्त्रीय दृष्टि से गुण-दोष विवेचन ही था। इस आलोचना से प्राचीन कवियों की ओर सामान्य शिक्षित जनता का ध्यान आकृष्ट हुआ। तुलनात्मक समीक्षकों में पद्म सिंह शर्मा का महत्त्व शृंगार-वर्णन की दीर्घकालीन परम्परा का निदर्शन करते हुए उसके बीच बिहारी का मूल्यांकन करने के कारण, कृष्ण बिहारी मिश्र का महत्त्व प्राचीन शास्त्रीय समीक्षा को सच्चे रूप में प्रतिष्ठित करने के कारण और लाला भगवानदीन का महत्त्व बिहारी की बारीकियों को लक्षित करने में है। इन सभी समीक्षकों ने आलोच्य कृतियों का गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिए इनके कथनों में तत्त्व और प्रभावोत्पादन की क्षमता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि चाहे द्विवेदी जी की कठोर नैतिक दृष्टि हो चाहे पद्म सिंह शर्मा की उल्लसित भाव-तरल दृष्टि, चाहे मिश्रबन्धुओं की लचीली और अस्थिर सौन्दर्य-दृष्टि हो, चाहे लाला भगवान दीन और कृष्ण विहारी मिश्र की स्थिर शास्त्रीय दृष्टि, प्राचीन रस-दृष्टि से किसी का कोई विरोध नहीं था। अपनी सीमाओं के बावजूद ये सभी आलोचन रसात्मक कविता को ही महत्त्व देते रहे।

आलोच्य युग में पाश्चात्य समीक्षकों की आलोचनात्मक कृतियों के कुछ अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये। इस युग के आरम्भ होने से कुछ वर्ष पूर्व जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने 'समालोचनादर्श' (1897) नाम से पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' का पद्यात्मक अनुवाद प्रस्तुत किया था। सन् 1905 में आचार्य शुक्ल ने एडिसन के 'एस्से ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से अनुवाद किया। बाबू शिव नंदन सहाय ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने काव्य-सिद्धान्त प्रतिपादक कुछ निबन्धों में कई अंग्रेज लेखकों का आधार लिया। इन सारे प्रयत्नों ने एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की, जिस पर आगे चल कर आचार्य शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी की वैज्ञानिक आलोचना का भव्य भवन निर्मित किया। भारत में समालोचना काव्य सिद्धान्त-निरूपण के रूप में ही प्रचलित थी। कवियों की निजी विशेषताओं को या तो सूक्तियों और प्रशस्तियों के माध्यम से प्रकट किया जाता था अथवा टीकाओं के अन्तर्गत कभी-कभी काव्य-सौन्दर्य विधायक सूक्ष्म तत्त्वों का संकेत कर दिया जाता था। पाश्चात्य साहित्य से परिचित होने और उसका स्वस्थ प्रभाव ग्रहण करने का परिणाम यह हुआ कि आलोचना एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्य हुई। कवि-विशेष के सामान्य गुण-दोष प्रकट करने के साथ ही उसके काव्य की मूल प्रवृत्तियों की छानबीन करके उसमें निहित देश-काल-सापेक्ष और शाश्वत तत्वों का उद्घाटन करने तथा व्यापक मानवीय मूल्यों की दृष्टि से उसका महत्त्व प्रतिपादन करने की नयी परिपाटी का विकास आगे चल कर आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं द्वारा हुआ।

द्विवेदी युग की उपलब्धि

उपर्युक्त समस्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि द्विवेदी युग में हिन्दी-आलोचना का व्यापक विकास एवं प्रभूत उत्कर्ष हुआ। इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि संस्कृत-समीक्षा सिद्धान्तों का पुनराख्यान करके तथा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों को भारतीय संस्कारों के अनुकूल ढालकर, दोनों के समन्वित आधार पर हिन्दी के लिए उचित शास्त्रीय समीक्षा सिद्धान्तों का निर्माण माना जा सकता है। साथ ही इन सिद्धान्तों का उचित उपयोग करते हुए व्यावहारिक

Scanned with CamScanner

समीक्षा की व्याख्यात्मक पद्धति के विकास को इस युग की दूसरी महती उपलब्धि मान सकते हैं। इनके अतिरिक्त इस युग की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है कृतियों के मूल्यांकन में सामाजिक मूल्यों को महत्त्व देने की परम्परा का विकास। यह परम्परा भारतेन्दु-युग में प्रारम्भ हुई थी। इस युग में उसे और महत्त्व दिया गया। यह महत्त्व आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी-युग की प्रगतिशील चेतना की सक्रियता का द्योतक है। यह सर्वविदित है कि द्विवेदी जी नायिका-भेद और 'रीतिवाद' के विरोधी थे। वे अपने युग के साहित्य को नवजागरण की वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि के अनुकूल प्राणवान बनाना चाहते थे। इसीलिए जब मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' प्रकाशित हुई तो उन्होंने उसकी समीक्षा करते हुए लिखा-- 'यह सोते हुओं को जगाने वाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है, आत्म विस्मृतों को पूर्व-स्मृति दिलाने वाला है, निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है, उदासीनों के हृदयों में उत्तेजना उत्पन्न करने वाला है।' (विचार-विमर्श, पृष्ठ : 195) आचार्य द्विवेदी के साथ ही श्री बालमुकुन्द गुप्त भी साहित्यिक रचनाओं की श्रेष्ठता का निर्णय देश और समाज की भलाई में उनके योगदान के आधार पर करते थे। बंगला नाटक 'अश्रुमती' के हिन्दी अनुवाद की आलोचना करते हुआ उन्होंने लिखा--'हमारी समझ में नहीं आया कि इसके बनाने वाले ने क्यों इस पुस्तक को बनाया है? बनाने में उसका उद्देश्य क्या था? देश की भलाई, समाज की भलाई, साहित्य की भलाई-- तीनों में कौन सी बात इस पुस्तक के बनाने में सोची गयी?' (गुप्त निबन्धावली, प० भा०, पृ०-543) आचार्य द्विवेदी की समर्थनमूलक और गुप्त जी की विरोधमूलक आलोचनाएँ एक ही समीक्षा-दृष्टि का समर्थन करती हैं। वह दृष्टि है--'रचनाओं की श्रेष्ठता का निर्णय मात्र कला की दृष्टि से न करके उनकी सामाजिक-नैतिक उपयोगिता के आधार पर करना।' यही दृष्टि आगे चलकर आचार्य शुक्ल के 'लोकमंगल के प्रतिमान' की प्रतिष्ठा का आधार बनी। आचार्य शुक्ल की आलोचना में पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षा-पद्धतियों के संश्लिष्ट उत्कर्ष के साथ ही मूल्यांकन की लोक मांगलिक दृष्टि का भी चरम विकास हुआ। उन्होंने द्विवेदी युग की समस्त रचनात्मक ऊर्जा को आत्मसात करके हिन्दी-आलोचना को ऐसी ऊँचाई प्रदान की, जिसे आज भी श्लाघ्य और अनुकरणीय माना जाता है। उनकी आलोचना द्विवेदी-युग का अतिक्रमण करके भविष्य का पथ प्रशस्त करने वाली है। उन्होंने आगे चल कर विकसित होने वाले अनेक समीक्षा सिद्धान्तों एवं पद्धतियों को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। हिन्दी-आलोचना के प्रशस्त-पथ पर वे एक ऐसे आलोक स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जिसके प्रकाश में हम आगे और पीछे दोनों ही ओर बहुत दूर तक देख सकते हैं।

'छायावाद' और उसके बाद की हिन्दी-आलोचना

द्विवेदी-युग की जीवन-दृष्टि मूलतः नैतिक एवं सुधारवादी थी। साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी इस जीवन-दृष्टि का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसलिए इस युग के समीक्षक काव्य की उत्कृष्टता की परख नैतिकता के स्तर पर ही करते थे। आचार्य शुक्ल का 'रसवाद' आलम्बन में ऐसे धर्मों की प्रतिष्ठा पर बल देता था जो लोक के लिए आदर्श उपस्थित करते हुए उसका पूर्ण समर्थन प्राप्त कर सकें। इसीलिए उन्होंने ऐसे काव्य को उत्कृष्ट माना, जिसका नायक लोक-मंगल की साधना में प्रवृत्त हो अर्थात् पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के दमन में तत्पर हो। जिस काव्य का नायक सुख, सौन्दर्य, माधुर्य एवं प्रेम-क्रीड़ा में ही लीन रहता है, उसकी महत्ता आचार्य शुक्ल को मान्य नहीं थी। इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। तरुण कवियों-- प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और रामकुमार वर्मा आदि ने नैतिकता और स्थूल उपयोगिता के बन्धन को काव्य के लिए अनावश्यक समझा। इन

Scanned with CamScanner

कवियों ने काव्य के नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा की। कवि पन्त के शब्दों में -- 'नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार कवि की वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ फूट पड़ीं।'[1] इस नवोन्मेष के परिणामस्वरूप छायावादी काव्य में व्यक्ति-चेतना को महत्त्व प्राप्त हुआ। उसका यही व्यक्ति-भाव ''प्रसाद में 'आनन्द भाव', 'निराला' में 'अद्वैतभाव', पन्त में 'आत्मरति' और महादेवी में 'परोक्ष-रति', के रूप में प्रकट हुआ।''[2] छायावादी कवियों ने वैयक्तिक भावानुभूति, कल्पना की अतिशयता, भाषा की कोमलता, अभिव्यक्ति में लाक्षणिक एवं चित्र-व्यंजनात्मक शैली के प्रयोग तथा सौन्दर्य-प्रियता पर अधिक बल दिया। इन कवियों के मूल्यांकन के लिए जिस नवीन समीक्षा सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई, उसे छायावादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचना कहते हैं।

छायावादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचना

स्वच्छन्दतावादी आलोचना के प्रमुख स्तम्भ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी माने जा सकते हैं। वाजपेयी जी ने भारतीय रस-सिद्धान्त को पाश्चात्य सौष्ठववाद से जोड़कर इन शब्दों में अपने काव्यादर्श की घोषणा की-- 'काव्य का महत्त्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियन्त्रण बाह्य स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।'[3] ठीक यही घोषणा अपनी काव्य-प्रतिभा के उन्मेष काल में, 'प्रसाद' जी ने 'इन्दु' के माध्यम से की थी-- 'साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं होता और उसके लिए कोई विधि या निबन्धन नहीं है, क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है।'[4] इससे प्रकट है कि द्विवेदी-युग के भीतर से ही स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ स्फुटित होने लगी थीं। साहित्य की 'स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति' ही स्वच्छन्दतावाद का केन्द्रीय तत्त्व है। कल्पनाचारुता, आनन्दप्रियता, भावात्मकता, मानवतावाद, राष्ट्रीयता, रहस्यात्मकता, आदि विशेषताएँ तो इसके अनुसारी परिणाम के रूप में इसमें स्वतः आ जाती हैं।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा को पाश्चात्य रोमांटिक समीक्षा का भारतीय संस्करण कहा जा सकता है। आलोचकों ने पन्त जी के 'पल्लव' की तुलना वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के 'लिरिकल वैलेड्स' से की है और उसे हिन्दी की रोमांटिक कविता का 'मेनीफेस्टो' बताया है। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों पर वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि का प्रभाव भी स्वीकार किया जा चुका है। ऐसी स्थिति में हिन्दी स्वच्छन्दतावादी या छायावादी आलोचना को पाश्चात्य रोमांटिक साहित्यशास्त्र के समकक्ष सरलता से रखा जा सकता है। दोनों ही एक प्रकार की परिस्थितियों की उपज भले ही न हो या दोनों में सभी बातों की समानता भी चाहे न हो, किन्तु काव्य की स्वतन्त्र सत्ता, उसमें व्यक्ति-चेतना का महत्त्व, कल्पना-तत्त्व की प्रधानता, प्रकृति के प्रति जिज्ञासा, विस्मय और प्रेम का भाव तथा आनन्दवादी उद्देश्य दोनों में ही समान रूप से मान्य हैं। पन्त जी की भाँति अन्य छायावादी कवियों ने

Scanned with CamScanner

भी अपनी रचनाओं के साथ लम्बी भूमिकायें लिखकर 'छायावाद' की विशेषताओं को स्पष्ट किया और प्रकारान्तर से छायावादी समीक्षा-दृष्टि को पुष्ट और समृद्ध किया।

छायावादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र उल्लेखनीय हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'प्रसाद', 'निराला', और 'पन्त' की समीक्षा स्वच्छन्दतावादी एवं सौन्दर्य-बोधक मूल्यों की दृष्टि से की और इन्हें 'छायावाद' की वृहत्त्रयी के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य शुक्ल की नैतिक एवं लोक-मंगल-केन्द्रित आलोचना-दृष्टि का अतिक्रमण करके आपने सौन्दर्य बोधात्मक एवं सांस्कृतिक आलोचना दृष्टि की प्रतिष्ठा की। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यह ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य समझा जायेगा। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने गांधी एवं रवीन्द्र की मानववादी दृष्टि को 'छायावाद' की केन्द्रीय चेतना माना। उनकी समीक्षा-पद्धति में तर्कपूर्ण विश्लेषण का अभाव लक्षित होता है। वे 'छायावाद' के रागात्मक प्रभाव से अभिभूत थे। उनकी समीक्षा इसी प्रभावाभिव्यक्ति के रूप में सामने आयी। डॉ० नगेन्द्र ने 1938 ई० में 'सुमित्रानन्दन पन्त' की समीक्षा 'छायावादी स्वच्छन्दतावादी' (सौन्दर्य बोधात्मक) मूल्यों की दृष्टि से किया। यह समीक्षा अधिक संतुलित एवं तर्क-पूर्ण है। 1940 ई० तक आते-आते 'छायावाद' ह्रासोन्मुख हो गया। स्वयं छायावादी कवि कल्पना के स्वप्नलोक से उतर कर धरती पर आ गये। इसके साथ ही स्वच्छन्दतावादी आलोचना का भी ह्रास हुआ और देखते-देखते 'प्रगतिवादी' कविता का दौर आरम्भ हुआ। इसके साथ ही प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति का उदय हुआ।

छायावादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचना के विकास काल में ही हिन्दी में एक अन्य आलोचना-पद्धति का उन्मेष देखा गया, जिसे प्रभाववादी-समीक्षा कहते हैं। इसके उन्मेष के मूल में भी 'छायावाद' की भावाकुलता ही प्रधान थी। इसलिए यहाँ संक्षेप में इसका निदर्शन अवांछित न होगा।

प्रभाववादी आलोचना

प्रभाववादी आलोचना काव्य-वस्तु के प्रति सहृदय की मार्मिक प्रतिक्रिया है। इसमें सहृदय आलोचक सबसे पहले काव्य को पढ़कर प्रभाव ग्रहण करता है और फिर उसे मार्मिक ढंग से व्यक्त करके दूसरों तक पहुँचाता है। इस समीक्षा में आलोचक स्वयं एक प्रकार की रचना करने लग जाता है और प्रायः आलोच्य-विषय से दूर चला जाता है। प्रभाववादी समीक्षक कलाकृति से प्रभावित होकर नूतनकला को जन्म देता है। एक प्रकार से वह आलोच्य कवि का समानधर्मी बन कर सामने आता है। हिन्दी में पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की आलोचना करते समय प्रभाववादी आलोचना का आभास दिया था। छायावादी युग के आलोचक शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचना प्रायः प्रभाववादी ढंग की हो गयी है। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की 'नूरजहाँ' की आलोचना इसी पद्धति पर की है। वे स्वयं कहते हैं-- "नूरजहाँ के अध्ययन का मेरे ऊपर बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ा। फलतः कुछ अनुकूल अन्तर्ग्रन्थियाँ खुल पड़ीं। मैं एक बात को स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत प्रयास समालोचक का नहीं, प्रत्युत सहानुभवी और समानधर्मी का है। मैं 'प्रभाववादी' हूँ। जब अनुकूल प्रभाव का स्पर्श होता है, प्रभाववादी चुप नहीं बैठ सकता।"[1] यों उपाध्याय जी प्रगतिशील विचारक हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि विचारधारा-विशेष के प्रति प्रतिबद्ध लेखक भी रचना-विशेष से प्रभावित होकर प्रभावाभिव्यंजक शैली में आलोचना कर सकता है। 'छायावाद' युग के अन्य आलोचकों में कहीं-कहीं प्रभावाभिव्यंजन की

Scanned with CamScanner

झलक मिलती है। यह होते हुए भी हिन्दी-आलोचना-साहित्य में प्रभाववादी समीक्षा का उचित विकास नहीं हो पाया। मार्क्सवादी समीक्षा की बौद्धिक, तर्कपूर्ण एवं वस्तु-विश्लेषिणी पद्धति ने इसके विकास को अवरुद्ध कर दिया। स्वच्छन्दतावादी एवं प्रभाववादी आलोचनाओं के बाद हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में 1-- समाजशास्त्रीय या प्रगतिवादी, 2-- मनोवैश्लेषिक या अन्तश्चेतनावादी तथा 3-- ऐतिहासिक सांस्कृतिक, इन तीन नवीन समीक्षा-सिद्धान्तों एवं पद्धतियों का विकास हुआ। इनके साथ ही द्विवेदी-युग में विकसित शास्त्रीय समीक्षा या सैद्धान्तिक समीक्षा एवं अनुसन्धानपरक समीक्षाओं का भी विशेष उत्कर्ष हुआ। अगले पृष्ठों में इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा।

मनोवैज्ञानिक या अन्तश्चेतनावादी आलोचना

मनोवैज्ञानिक आलोचना का मूल उत्स फ्रायड (सिगमण्ड फ्रायड 1856-1930 ई०) का अन्तश्चेतनावादी कला-सिद्धान्त है। फ्रायड के अनुसार, "मानव मन की अनेक वासनाएँ धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण अन्तर्मन में दबी रह जाती हैं। ये वासनाएँ अवचेतन मन में चेतन क्षेत्र में आने तथा व्यक्त होने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं। मानव का यह अवचेतन मन (Unconcious Mind) अधिक सक्रिय होता है। चेतन और अवचेतन के बीच मन की अर्धचेतन स्थिति भी होती है। इसी से होकर दमित वासनाएँ अवचेतन मन में प्रविष्ट होती रहती हैं। ये दमित वासनाएँ काम-मूला होती हैं। कला और साहित्य के माध्यम से इन वासनाओं की अभिव्यक्ति सुन्दरतम रूप में होती है, क्योंकि यहाँ इनका उदात्तीकरण हो जाता है। कलाकार अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का व्यक्ति होता है। जब उसकी प्रेम, यश, धन, शक्ति सम्बन्धी एषणाएँ यथार्थ जगत् में पूर्ण नहीं हो पातीं तो वह अपनी वासनाओं की तुष्टि कल्पनालोक में करने लगता है। इस व्याख्या के अनुसार काव्य-कला दमित काम-वासना की ही उदात्त काल्पनिक अभिव्यक्ति है। मनोवैज्ञानिक आलोचना कवि के व्यक्तिगत जीवन के अध्ययन के बल पर उन वासनाओं का विश्लेषण करती है जो कवि के मन में दमित रह गयी होती हैं और जिनकी अभिव्यक्ति उसकी काव्य-कृतियों में होती है। फ्रायड के बाद उनके शिष्य एडलर और युंग ने उनकी मान्यताओं को व्यापक आधार देने की चेष्टा की। एडलर (1870-1937) ने काम-भावना से अधिक महत्त्व अधिकार-भावना (Self assertion) को दिया। उसने अधिकार भावना को शारीरिक हीनता-(Organic-inferiority) जनित मनोग्रन्थि से उद्भूत माना और कला को इस हीनता की पूर्ति का साधन बताया। युंग (1875-1961) ने फ्रायड की 'काम-भावना' और एडलर की 'अधिकार-भावना' दोनों को ही एकांगी बताया।

उसने अवचेतन मन के भी दो भेद स्वीकार किये हैं-- वैयक्तिक अवचेतन और सामूहिक अवचेतन। उसके अनुसार यह सामूहिक अवचेतन ही हमारी समस्त शक्तियों का अन्धकारमय कोश है। इसमें हमारे पूर्वजों के लाखों वर्षों के अनुभव तथा विश्व में घटित युगों-युगों की ऐतिहासिक घटनाएँ पर्त-दर-पर्त संचित रहती हैं। यह अनुभव अभिव्यक्ति के लिए बिम्बों और प्रतीकों का सहारा लेते हैं। संसार के साहित्य में ऐसे अनेक आद्य-बिम्ब लक्षित किये जा सकते हैं, जिनकी व्याख्या से मानव की विकास-यात्रा की आदिम स्थितियाँ स्पष्ट होती हैं। डॉ० बच्चन सिंह आदि बिम्ब और मिथक को लगभग एक ही चीज मानते हैं। वे कहते हैं-- "मिथक आदिम मनुष्य की भाषा है, जिसके माध्यम से वह जीवन और प्रकृति के रहस्यों के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को अलौकिक गाथाओं के रूप में अभिव्यक्त करता था। यह आदिम यथार्थ के प्रति सामूहिक अवचेतन मन का

Scanned with CamScanner

सहज स्फूर्त बिम्बात्मक सृजन है।''[1] किसी युग-विशेष, में जब व्यक्ति या समष्टि का चेतन दृष्टिकोण पुराना पड़ जाता है तो उसकी पूर्ति के लिए यह सामूहिक अवचेतन क्रियाशील होता है और प्रतिभावान युगद्रष्टा या कवि इस सामूहिक अवचेतन से प्रेरित होकर उस नवीन युग-चेतना को लेकर सामने आता है, जिसकी आवश्यकता जन-जन को होती है। युंग की मान्यता का आधार व्यापक है और इसलिए इसके द्वारा युग-विशेष की काव्य-चेतना की अधिक उचित व्याख्या हो सकती है।

हिन्दी में इलाचन्द्र जोशी मनोवैज्ञानिक आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक क्रियाशील आलोचक माने जा सकते हैं। 'साहित्य-सर्जना' (1940 ई०) लिखकर उन्होंने मनोवैज्ञानिक आलोचना की प्रतिष्ठा की थी। उसके बाद 'विवेचना' (1948 ई०) 'विश्लेषण' (1954 ई०) 'देखा-परखा' (1957 ई०) आदि कृतियों में उनका मनोवैज्ञानिक आलोचक निरन्तर सजग रहा है। जोशी जी के अनुसार हिन्दी का भक्ति साहित्य दमित काम-कुण्ठा का ही प्रतीक है। 'छायावादी-काव्य' में भी उन्होंने यौन-सम्बन्धी मनोभावनाओं को ही शब्दजाल में अवगुण्ठित शालीन स्थिति में रूप में देखा है। जोशी जी के चिन्तन पर फ्रायड के काम मनोविज्ञान का विशेष प्रभाव है। अन्य मनोवैज्ञानिक आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवराज उपाध्याय और अज्ञेय का नाम उल्लेखनीय है। डॉ० नगेन्द्र मूलतः रसवादी आलोचक हैं, किन्तु वे मनोविज्ञान को रसवाद का पूरक मानते हैं। 'अज्ञेय' के अनुसार, ''अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर कलाकार जब विद्रोह कर देता है तो उसका यह विद्रोह ही कलात्मक सृष्टि के रूप में प्रकट होता है।''[2] इस प्रकार 'अज्ञेय' जी ने प्रकारान्तर से कला के मूल में हीनता की अनुभूति और उसकी पूर्ति के प्रयत्न की बात को स्वीकार किया है। डॉ० देवराज उपाध्याय ने हिन्दी कथा साहित्य की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अच्छी आलोचना की है। आपकी 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' (1964 ई०) नामक महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाशित हुई है। डॉ० ज्वाला प्रसाद खेतान ने 'अज्ञेय की रचना में काम-तत्त्व और उसकी परिणति' (1978 ई०) लिखकर उनके उपन्यासों में चिरन्तन नारी के आद्य-विम्ब और काव्य-कृतियों में विज्ञ पुरुष के आद्य-बिम्ब का अनुसन्धान किया है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य रचना एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसलिए उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। पश्चिम में इस प्रकार के अध्ययन की समृद्ध परम्परा है। मनोविश्लेषण के चलते रचनाकार की रचना-प्रक्रिया का भी अध्ययन होने लगा है। किन्तु इस समीक्षा-पद्धति की अपनी सीमायें हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचना मनोविश्लेषण के सहारे कथा साहित्य में पात्रों के आचरण की व्याख्या कर सकती है, वर्णित और घटित घटनाओं के आधारभूत मनोवैज्ञानिक कारणों का अनुसंधान कर सकती है, पुरुष और नारी पात्रों में आद्य पुरुष और आद्य नारी के बिम्बों की झलक देख सकती है, रचनाकार द्वारा प्रयुक्त विशेष प्रकार के प्रतीकों और बिम्बों के भीतर छिपे अभिप्राय की व्याख्या कर सकती है, मिथकीय रचनाओं और कल्पनाओं के भीतर छिपे हुए जीवन-सत्य का उद्घाटन कर सकती है, फैंटेसी के भीतर झिलमिलाते हुए यथार्थ का विवेचन कर सकती है, किन्तु साहित्य और कला के समग्र सौन्दर्य की व्याख्या नहीं कर सकती। कहा जा सकता है कि-- ''कला का केवल वही पक्ष जो कलात्मक रूप-विधान की प्रक्रिया से सम्पृक्त है मनोविज्ञान का विषय हो सकता है। जो पक्ष कला की आधारभूत प्रकृति से सम्बद्ध है वह सदैव मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।''[3] इसीलिए इधर मनोवैज्ञानिक आलोचना का जोर कम पड़ गया

---

1. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीच शब्द, पृष्ठ-77
2. 'त्रिशंकु', अज्ञेय, देखिए, 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' निबन्ध
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृष्ठ-342.

Scanned with CamScanner

है। अब मिथकीय आलोचना का प्रचलन बढ़ गया है। डॉ० नगेन्द्र, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, डॉ० जगदीश श्रीवास्तव, डॉ० अश्विनी पाराशर, डॉ० उषापुरी विद्यावाचस्पति, प्रभुनाथ आदि की मिथिकीय आलोचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना आलोच्य-कृति का मूल्यांकन इतिहास एवं संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में करना चाहती है। वर्तमान की किसी भी गम्भीर जटिल एवं उलझनपूर्ण समस्या का कारण कभी-कभी सुदूर अतीतवर्ती किसी महान् ऐतिहासिक घटना में ढूँढ़ा जा सकता है। इसलिए युग-विशेष के साहित्य को समझने के लिए हमें समूची ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का अनुशीलन करना होगा। हिन्दी में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की समीक्षाएँ इसी कोटि की हैं। ऐतिहासिक आलोचक के अनुसार मानव समुदाय की चिन्तनशीलता देशकाल के अनुसार परिवर्तित होते हुए भी परम्परा से बँधी होती है। इसी कारण निर्गुण सन्तों को समझने के लिए हमें नाथ योगियों एवं बौद्ध सिद्धों का भी अध्ययन करना पड़ता है। हिन्दी-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों को हमें अपभ्रंश साहित्य से सम्बद्ध करके देखना पड़ता है। समीक्षा की यह ऐतिहासिक पद्धति व्याख्यात्मक आलोचना का ही एक पूरक अंग है। इसका उपयोग आचार्य शुक्ल ने भी 'जायसी' की आलोचना में किया था, किन्तु इसका आदर्श रूप उनके बाद पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचनाओं-- 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (1940 ई०), 'कबीर' (1942 ई०) एवं 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (1952 ई०) में प्रस्फुटित हुआ। पं० परशुराम चतुर्वेदी की 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' (1951 ई०) तथा पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'भूषण ग्रन्थावली' (1953 ई०) की भूमिका इसका अच्छा उदाहरण है। चतुर्वेदी जी में वैज्ञानिक अन्वेषक की तटस्थता अधिक है जबकि द्विवेदी जी तटस्थ नहीं रह पाते और उनकी संवेदनशीलता उभर आती है। इधर हिन्दी के शोध प्रबन्धों में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के अध्ययन को महत्त्व देकर इस समीक्षा-पद्धति की उपयोगिता स्वीकार की जा रही है। ऐतिहासिक आलोचना एक प्रकार से साहित्य की इतिहास-दृष्टि को स्पष्ट करती है। इधर हिन्दी में भी साहित्य के इतिहास दर्शन पर कार्य होने लगा है। इतिहास दर्शन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक समीक्षा के सिद्धान्त पक्ष को पुष्ट करता है। साहित्य के इतिहास की अवधारणा बदलती रही है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक समीक्षा का स्वरूप भी बदलता रहा है। साहित्य, सापेक्षिक दृष्टि से ही कालजयी होता है। उसकी अन्तर्वस्तु और रूप दोनों ही देश-काल-बद्ध होते हैं। इस प्रकार युग-बोध के सन्दर्भ में साहित्य का मूल्यांकन एक प्रकार से ऐतिहासिक समीक्षा की सीमा में ही आता है। किसी भी साहित्य को शाश्वत न मानकर उसकी देश-काल-बद्धता को रेखांकित करने वाली समीक्षा ऐतिहासिक ही मानी जायेगी।

शास्त्रीय समीक्षा

हम देख आये हैं कि द्विवेदी युग में शास्त्रीय समीक्षा या सैद्धान्तिक समीक्षा का विकास दो रूपों में हुआ था। कुछ आलोचकों ने तो रीतिकालीन लक्षण-ग्रंथों की परम्परा में नवीन विवेचना पूर्ण लक्षण-ग्रन्थों की ही रचना की थी और कुछ ने संस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का समन्वय करके नवीन सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रणयन किया था। 'छायावाद' युग में शास्त्रीय विवेचन कुछ रुक सा गया था। छायावादोत्तर युग से लेकर अब तक इन दोनों परम्पराओं का पुनः महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है।

इधर नवीन लक्षण-ग्रन्थों की रचना न करके विद्वानों ने संस्कृत के मूल सिद्धान्त ग्रन्थों का

Scanned with CamScanner

हिन्दी में भाष्य सहित प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करने में अपूर्व उत्साह दिखाया है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' दिल्ली ने 'काव्यादर्श' (दण्डीकृत), 'काव्यालंकार सूत्र' (वामन कृत) 'ध्वन्यालोक' (आनन्दवर्धन कृत), 'वक्रोक्ति जीवित' (कुंतक कृत), 'काव्य-मीमांसा' (राजशेखर कृत)। 'औचित्य विचार चर्चा' (क्षेमेन्द्र कृत), 'काव्य प्रकाश' (मम्मट कृत), 'अभिनव भारती' (अभिनव गुप्त कृत), 'नाट्य दर्पण' (रामचन्द्र गुणचन्द्र कृत) आदि संस्कृत के सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रामाणिक संस्करण हिन्दी में अवतरित करके बड़ा भारी काम किया है। इसी प्रकार परिषद् ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों-- अरस्तू के 'काव्यशास्त्र', लांजाइनस के 'दि सब्लाइम' तथा होरेस के 'आर्स पोएटिका' का भी हिन्दी में अनुवाद कराया है। इन ग्रन्थों से हिन्दी-काव्यशास्त्र समृद्ध हुआ है।

पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धान्तों के समन्वित आधार पर सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना भी कम नहीं हुई है। 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' (1942 ई० लक्ष्मी नारायण सुधांशु), 'साहित्यशास्त्र' (1955 ई० रामकुमार वर्मा), 'काव्यशास्त्र' (1963 ई० भगीरथ मिश्र), 'समीक्षाशास्त्र' (1954 ई० सीताराम चतुर्वेदी), 'नया साहित्य नये प्रश्न' (1955 ई० नन्ददुलारे वाजपेयी), 'आलोचना का इतिहास तथा सिद्धान्त' (1952 ई० एस० पी० खत्री) आदि कृतियाँ पर्याप्त गम्भीर और विश्वसनीय सामग्री दे सकी हैं। हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विवेचन भी अब थोड़ा बहुत होने लगा है। इस क्षेत्र में 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' (1952 ई० लीलाधर गुप्त), 'रोमांटिक साहित्यशास्त्र' (1951 ई० डॉ० देवराज उपाध्याय), 'पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव' (1960 ई० डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा), 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' (डॉ० केसरीनारायण शुक्ल) जैसी कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों के कोश और विश्व कोश भी निर्मित हुए हैं। राजेन्द्र द्विवेदी का 'साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्द कोष' (1955 ई०) इस दिशा में एक अच्छा प्रयास है। दूसरा महत्त्वमूर्ण कार्य 'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग 1958 ई०) के रूप में सामने आया है। यह एक सामूहिक प्रयास है और अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह सब कुछ होने पर भी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का जैसा गम्भीर, तात्त्विक, मर्मग्राही एवं संश्लिष्ट विवेचन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है, उसका अभाव बना हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों में मात्र सामग्री उपस्थित की गयी है, तत्त्व का विवेचन नहीं किया गया है। डॉ० नगेन्द्र के बहुचर्चित ग्रन्थ 'रस-सिद्धान्त' (1964 ई०) में भी संस्कृत और हिन्दी में उपलब्ध समस्त सामग्री को क्रमबद्ध एवं सुनियोजित ढंग से सजा दिया गया है, ग्रन्थ का बहुत बड़ा भाग मौलिक आख्यान न होकर अनुशीलनपरक है। नवीन चिन्तन और विचार की दृष्टि से सबसे सशक्त अन्तिम अध्याय-- 'रस सिद्धान्तः शक्ति और सीमा' है। डॉ० नगेन्द्र ने रस-सिद्धान्त को मानववाद के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित मान कर उसके माध्यम से निरन्तर विकासमान कला-चेतना का मूल्यांकन सम्भव माना है। पिछले 25 वर्षों में इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हुआ है। शास्त्रीय समीक्षा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में राममूर्ति त्रिपाठी कृत 'औचित्य दर्शन' (1964 ई०), तारकनाथ बाली कृत 'रस सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या' (1964 ई०), भगीरथ मिश्र कृत 'काव्य मनीषा' (1965 ई०), राममूर्ति त्रिपाठी कृत 'लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार' (1966 ई०) कुमार विमल कृत 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' (1967 ई०), डॉ० नगेन्द्र द्वारा संपादित 'भारतीय काव्य सिद्धान्त' (1969 ई०), शंकर देव अवतरे कृत 'काव्यांग प्रक्रिया' (1977 ई०), भगीरथ दीक्षित कृत 'अभिनव साहित्य चिन्तन' (1977 ई०), राममूर्ति त्रिपाठी कृत 'काव्य तत्त्व विमर्श' (1980 ई०) रवि प्रकाश कृत 'हिन्दी काव्य शास्त्र में रस-स्वरूप' (1981 ई०), प्रेमकान्त टण्डन कृत 'साधारणीकरण और सौन्दर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धान्त' (1983 ई०), देवेन्द्र नाथ शर्मा

Scanned with CamScanner

कृत 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' (1984 ई०), विजेन्द्र नाथ सिंह कृत 'भारतीय काव्य समीक्षा में वक्रोक्ति सिद्धान्त' (1984 ई०), राममूर्ति त्रिपाठी कृत 'भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज' (1988 ई०) तथा भगीरथ मिश्र कृत 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' (1088 ई०) उल्लेखनीय है। मार्क्सवादी समीक्षा के व्यापक प्रभाव के परिणामस्वरूप अब मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का भी विवेचन होने लगा है। इस विषय पर शिवकुमार मिश्र कृत 'मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन' (1973 ई०), और कमला प्रसाद द्वारा सम्पादित 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र' (1977 ई०) महत्त्वपूर्ण प्रयास हैं। उपर्युक्त कृतियों को सामने रखकर कहा जा सकता है कि अब हिन्दी में काव्यशास्त्रीय चिन्तन की परिधि विस्तृत हो गयी है। अब हम भारतीय और पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का अलग-अलग विवेचन करने के साथ ही दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने लगे हैं। अन्य भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्रीय चिन्तन के समकक्ष हिन्दी के शास्त्रीय चिन्तन के महत्त्व और मूल्य की परीक्षा भी कर रहे हैं। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के आलोक में आधुनिक हिन्दी काव्य के मूल्यांकन के भी कुछ प्रयास हुए हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद की प्रक्रिया के साधारणीकरण और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन परम्परा में विकसित 'सौन्दर्यानुभूति' के सिद्धान्तों का बारीकी से विवेचन भी किया जाने लगा है। यह सब होने पर भी अभी हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमने कोई मौलिक स्थापना कर ली है। हम इतना ही कह सकते हैं अब हमें मौलिक स्थापनाओं की कठिनाइयाँ समझ में आने लगी हैं और हम अपना दायित्व समझने लगे हैं।

अन्वेषण एवं अनुसन्धानपरक आलोचना

द्विवेदी-युग में अन्वेषण एवं अनुसन्धानपरक आलोचना का आरम्भ मात्र हुआ था। विगत 60 वर्षों में इस आलोचना का अभूतपूर्व विकास हुआ है। इसका प्रधान कारण यह है कि विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० और डी० लिट्० की उपाधियों के लिए प्रस्तुत होने वाले प्रबन्धों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी है। हिन्दी में साहित्य सम्बन्धी विषय पर लिखा गया पहला शोध प्रबन्ध डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' सन् 1934 ई० में स्वीकृत हुआ था। इसके बाद क्रमशः 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' डॉ० रमा शंकर शुक्ल 'रसाल' (1937 ई०), 'तुलसी दर्शन' (डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, 1938 ई०), 'तुलसीदास' (डॉ० माताप्रसाद गुप्त, 1940 ई०), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 1940 ई०), 'आधुनिक काव्य धारा' (डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, 1940 ई०), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (डॉ० श्री कृष्ण लाल,1941 ई०), 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' (डॉ० जगन्नाथ शर्मा, 1943 ई०), 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' (डॉ० दीनदयालु गुप्त, 1944 ई०), 'सूरदास' (डॉ० ब्रजेश्वर शर्मा, 1945 ई०), 'हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका, 1757 ई० से 1857 ई०' (डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 1946 ई०), 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' (डॉ० उदय भानु सिंह,1946 ई०), 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' (डॉ० भगीरथ मिश्र, 1947 ई०), 'चन्दबरदाई और उनका काव्य' (डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी, 1948 ई०), 'राम कथा उत्पत्ति और विकास' (डॉ० कामिल बुल्के, 1949 ई०), 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' (डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल, 1949 ई०), 'आचार्य केशवदास' (डॉ० हीरालाल दीक्षित, 1950 ई०), 'हिन्दी-साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास' (डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र, 1951 ई०), 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' (डॉ० भोलाशंकर व्यास, 1952 ई०), 'अपभ्रंश साहित्य' (डॉ० हरिवंश कोछड़, 1952 ई०), 'सिद्ध साहित्य' (डॉ० धर्मवीर भारती, 1953 ई०), हिन्दी में महाकाव्य का स्वरूप विकास' (डॉ० शम्भुनाथ

Scanned with CamScanner

सिंह, 1955 ई०), 'काव्य में रस' (डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, 1956 ई०), 'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन' (डॉ० विनय मोहन शर्मा, 1956 ई०), 'सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्य' (डॉ० शिव प्रसाद सिंह, 1957 ई०) 'अवध के प्रमुख हिन्दी कवियों का अध्ययन' (डॉ० ब्रज किशोर मिश्र, 1957 ई०), 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' (डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, 1958 ई०), 'आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ० मनोहर काले 1960 ई०), 'आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त' (डॉ० सुरेश चन्द्र गुप्त, 1959 ई०), 'तुलसी दर्शन मीमांसा' (डॉ० उदय भानु सिंह, 1959 ई०), आदि अनेक महत्त्वपूर्ण शोध-कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन अनुसन्धानपरक कृतियों में वहुत सा अंश तथ्यपरक होता है। जिसे आलोचना नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह उससे भी बड़ा सत्य है कि आलोचना-दृष्टि के अभाव में अच्छा शोध-प्रवन्ध नहीं लिखा जा सकता। कुछ भी हो, हिन्दी के जो शोध-प्रवन्ध प्रकाशित हुए हैं, उनमें आलोचना के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में लक्षित होते हैं। शोध का विद्यार्थी शोध-सामग्री का अनुशीलन करते हुए तत्त्वों और मूल्यों का भी अन्वेषण करता है। इस प्रकार का अन्वेषण आलोचना-दृष्टि की अपेक्षा रखता है। पिछले पच्चीस वर्षों में संख्या और वैविध्य दोनों दृष्टियों से अनुसन्धानपरक आलोचना समृद्ध हुई है। विशेषतः दक्षिण की द्रविड़ परिवार की भाषाओं-- तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम तथा आर्य परिवार की भाषाओं-- मराठी, गुजराती, बंगला आदि की प्राचीन और आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों से हिन्दी की तत्कालीन काव्य-प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से पूरे भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का जो उद्‌घाटन हुआ है वह हिन्दी की शोध-यात्रा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। इस अवधि में 'हिन्दी भाषा का अर्थ-तात्विक विकास' (शिवनाथ, 1960 ई०), 'वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना' (प्रेमस्वरूप गुप्त, 1963 ई०), 'हिन्दी तथा वंगला काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' (इन्द्रनाथ चौधरी, 1964 ई०), 'हिन्दी भक्ति-साहित्य के सन्दर्भ में भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन' (रतिभानु सिंह नाहर, 1964 ई०), 'हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन' (चन्द्रकान्त महादेववांदिवडेकर, 1964 ई०), 'केशव का आचार्यत्व' (विजय पाल सिंह, 1964 ई०), 'जाम्भोजी विश्नोई : सम्प्रदाय और साहित्य' (हीरालाल माहेश्वरी, 1968 ई०), 'तमिल और हिन्दी साहित्य के आधार पर वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन' (मलिक मोहम्मद, 1970 ई०), 'प्राचीन भारत में काव्यरूपों का विकास और पुरानी हिन्दी के काव्य रूप' (शंभुनाथ सिंह, 1971 ई०), मध्ययुगीन कवियों के काव्य सिद्धान्त (सुरेशचन्द्र गुप्त, 1972 ई०), 'हिन्दी निर्गुण साहित्य में तांत्रिक दृष्टि का संचार' (राममूर्ति त्रिपाठी, 1972 ई०), 'निर्गुण कवियों का रामकाव्य' (जयंत्री प्रसाद, 1972 ई०), 'हिन्दी सूफी काव्य का समग्र अनुशीलन' (शिवसहाय पाठक, 1974 ई०), 'सन्त साहित्य का अभिव्यञ्जनापरक अध्ययन' (नजीर मुहम्मद, 1976 ई०), 'आधुनिक हिन्दी काव्य में मिथकीय कल्पना' (जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, 1976 ई०), 'हिन्दी में अनुवादित मराठी साहित्य ग्रन्थ' (पी०वी० जोशी, 1977 ई०), 'राजपूत चित्रकला शैलियाँ और रीतिकालीन काव्य' (सरला शर्मा, 1980 ई०) 'हिन्दी और तेलगु के उपन्यासों में चरित्र-निर्माण में मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों की भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन' (आर० श्रीधारा राव, 1981 ई०), 'सरस्वती और राष्ट्रीय जागरण' (हर प्रकाश गौड़ 1981 ई०), 'मधुर भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी और तेलुगु' (के० रामनाथन, 1983 ई०), 'प्रेमचन्द का जीवन' (कमल किशोर गोयनका, 1984 ई०), आदि महत्त्वपूर्ण शोध-प्रवन्ध स्वीकृत हुए हैं। 1980 से 1986 ई० के बीच स्वीकृत शोध-प्रबंधों की संख्या लगभग 3261 है। यह संख्या हिन्दी के व्यापक प्रचार-प्रसार की द्योत्तक है। जहाँ तक गुणात्मक उत्कर्ष का प्रश्न है, शोधपरक आलोचना की स्थिति वहुत उत्साह वर्धक नहीं है।

Scanned with CamScanner

स्वीकृत शोध-प्रबन्धों में पिष्टपेषण की प्रवृत्ति दुर्भाग्यपूर्ण है। तत्त्व-चिन्तन और नवीन व्याख्या का तो नितान्त अभाव है। एक अच्छे शोध-प्रबन्ध के प्रकाशित होते ही उसे आधार बना कर कई शोध-प्रबन्ध तैयार करा लिए जाते हैं। सम्भव है, प्रवाह के स्थिर होने पर शोध-स्तर में सुधार हो और अनुसंधानपरक आलोचना हिन्दी के गौरव के अनुकूल प्रतिष्ठा प्राप्त करे।

मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना

छायावादी कवि कल्पना-लोक में विचरण करता हुआ जीवन की यथार्थता से कुछ दूर चला गया था। वह स्वप्नलोक के मोहक सौन्दर्य को देख ही रहा था कि जीवन की वास्तविकता ने उसे झकझोर कर चौंका दिया। वह वस्तु-सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकता था। 'पन्त और निराला', जैसे समर्थ कवि सामाजिक यथार्थ के चित्रण की ओर उन्मुख हुए। 'सुमन', 'नरेन्द्र शर्मा', 'अंचल' आदि कवियों ने उत्तर छायावाद काल से ही नवीन प्रगतिशील काव्य की रचना आरम्भ कर दी थी। इसके साथ ही आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना का प्रचलन हुआ। प्रगतिवादी आलोचना का मुख्य आधार मार्क्सवादी जीवन-दर्शन है। मार्क्स का जीवन-दर्शन 'द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इनमें निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है। एक ऐसी अवस्था भी आती है जब वस्तु में सन्निहित परस्पर विरोधी तत्त्वों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इस प्रकार वस्तु का प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) अपने में ही सन्निहित विरोधी तत्त्वों से द्वन्द्व करता हुआ प्रत्यवस्थान (ऐण्टी थीसिस) में परिणत हो जाता है और आगे चलकर जब दोनों तत्त्वों में सन्तुलन हो जाता है तो वह साम्यावस्था (सिन्थेसिस) की स्थिति में आ जाता है, किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रह पाती। विरोधी तत्त्व पुनः उद्‌भूत होते हैं, द्वन्द्व चलने लगता है और नवीन अवस्थानक्रम प्रारम्भ हो जाता है। विकास की यह द्वन्द्वात्मक प्रणाली स्वीकार करता हुआ मार्क्स वर्तमान समाज की व्याख्या करते हुए बताता है कि पूँजीवादी वर्ग प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) है, सर्वहारा वर्ग प्रत्यवस्थान (ऐण्टी थीसिस) है। इन दोनों का द्वन्द्व अनिवार्य है। द्वन्द्व के पश्चात् साम्यवाद के रूप में साम्यावस्थान (सिन्थिसिस) की स्थिति का आना अवश्यंभावी है। मार्क्स के अनुसार वस्तु-जगत् ही चरम सत्य है। चेतनसत्ता तो जड़ जगत् में ही क्षोभ उत्पन्न होने के कारण उद्‌भूत हुई है। विचार जगत् वस्तुतः भौतिक जगत् का ही मानव मस्तिष्क में पड़ा प्रतिविम्ब है।

इस प्रकार 'चेतन-तत्त्व' को 'जड़-तत्त्व' का ही विकास मान लेने पर जगत् से परे 'ईश्वर' जैसी पृथक् चेतन सत्ता की मान्यता के लिए स्थान ही न रहा। ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार कर देने पर जगत् की समस्त व्यवस्था के मूल में मनुष्य के क्रियाकलाप को ही महत्त्व देना पड़ा। संसार में ऊँच-नीच एवं अमीर-गरीब का सारा प्रपंच मनुष्य द्वारा ही खड़ा किया गया है। यह ईश्वरीय न्याय का नहीं, मानवीय स्वार्थ का परिणाम है। मार्क्स के अनुसार-- मनुष्य की चेतना वस्तु-जगत् का नियमन नहीं करती, वरन् वस्तु-जगत् ही मानव-चेतना एवं विचारों के रूप में अन्तरित होता है। मानव-समाज के विकास पर विचार करते हुए मार्क्सवाद यह स्वीकार करता है कि आरम्भ में एक प्रकार की साम्यवादी व्यवस्था थी, जिसे 'आदिम साम्यवाद' कहा जा सकता है। इस आदिम साम्यवाद की परिणति दास प्रथा, 'दास प्रथा' की परिणति 'सामन्तशाही' और 'सामन्तशाही' की परिणति आधुनिक 'पूँजीवाद' में हुई है। आज की समस्त दुर्व्यवस्था के मूल में यह पूँजीवादी जीवन-दृष्टि ही कार्य कर रही है। चूँकि मानव-चेतना का नियमन सामाजिक परिस्थितियाँ करती हैं और कला-चेतना मानव-चेतना का ही उदात्त रूप है, इसलिए प्रत्येक युग का कलाकार आने-अनजाने

Scanned with CamScanner

उस वर्ग-विशेष का ही प्रतिनिधित्व करता है जिसमें वह पला होता है। इस प्रकार आज की पूँजीवादी व्यवस्था के समानान्तर विकसित होने वाली रोमांटिक कला-चेतना पूँजीवादी प्रवृत्ति का ही पोषण करती है। पूँजीवाद वस्तुतः व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की आर्थिक परिणति है। रोमांटिक कला इसी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सर्वोपरि महत्व देती है, उसे व्यक्ति-स्वातंत्र्य की कलात्मक परिणति कहा जा सकता है। पूँजीवाद को मिटाने और 'साम्यवाद' की स्थापना करने के लिए 'सर्वहारा वर्ग' के स्वाभिमान को जाग्रत करना होगा। अतः आज के कवि और कलाकार का कर्तव्य है कि वह सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट करे और ऐसी काव्य रचना करे जिससे यह वर्ग पूँजीवाद को मिटाने के लिए सन्नद्ध एवं सक्रिय हो सके। मार्क्सवादी समीक्षक जीवन और काव्य की उपर्युक्त व्याख्या स्वीकार करता हुआ कवियों का मूल्यांकन करते समय यह देखता परखता चलता है कि कवि-विशेष के काव्य में किस वर्ग-विशेष की हित-चिन्तना निहित है। वह मानता है कि लोक-मंगल की भावना प्राचीन साहित्य में भी है किन्तु वहाँ पीड़ितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करके सन्तोष कर लिया गया है। अब पीड़ितों और दलितों के प्रति सहानुभूति दिखाने और उनकी व्यथा पर करुणा का भाव प्रकट करने से ही काम नहीं चलेगा। आवश्यकता उन्हें सामाजिक न्याय दिलाने की है। इसके लिए यदि साहित्यकार शोषकों और शासकों के प्रति घृणा की अभिव्यक्ति करता है या क्रोध प्रकट करता है तो वह जायज है। ऐसी रचना को मार्क्सवादी समीक्षक 'मानवतावादी' ही मानता है। मार्क्सवादी समीक्षा दृष्टि कोई जड़ या स्थिर सैद्धान्तिक रूढ़ि नहीं है। उसका निरन्तर विकास होता आया है। अब तो टेरी इग्लटन जैसे आलोचक यह मानने लगे हैं कि 'मार्क्सवादी आलोचना का उद्देश्य साहित्यिक कृति की अधिक पूर्णता के साथ व्याख्या करना है, जिसमें उसके रूप, शैली और अर्थ के प्रति अधिक संवेदनशील सावधानी होती है। मार्क्सवादी आलोचना कृति की कालबद्धता ही नहीं, उसकी कालातीतता की भी व्याख्या करती है। मार्क्सवादी आलोचना की मौलिकता साहित्य की ऐतिहासिक समझ में नहीं बल्कि क्रान्तिकारी समझ में है।[1] मार्क्सवादी समीक्षक अब काव्य के रूप-पक्ष को भी महत्त्व देने लगे हैं। 'रूप' के परिवर्तन का अर्थ है वस्तु में और पूरे ऐतिहासिक बोध एवं विश्वदृष्टि में परिवर्तन। भाव और विचार बिम्बों, प्रतीकों, उपमान-विधानों तथा अन्य भाषिक वक्रताओं के माध्यम से ही मूर्त्त होते हैं। इसलिए 'रूप' के सौन्दर्य और अन्तर्वस्तु के साथ उसके जटिल सम्बन्ध का विश्लेषण आवश्यक है। इस प्रकार विगत वर्षों में मार्क्सवादी समीक्षा के क्षितिज का पर्याप्त विस्तार हुआ है और अब वह कृति-विशेष में निहित विचारधारा का ही अनुसंधान नहीं करती वरन् कृति की संरचना का विश्लेषण करके उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य का उद्घाटन करती है।

मार्क्सवादी बनाम समाजशास्त्रीय समीक्षा

सामान्यतः मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय समीक्षा को एक ही समझा जाता है किन्तु दोनों पूर्णतः एक नहीं है। समाजशास्त्रीय समीक्षा सामाजिक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में, सामाजिक जीवन की प्रक्रिया के अन्तर्गत, साहित्य के विविध पक्षों का आख्यान सामाजिक क्रिया के रूप में करती है। समाजशास्त्रियों की दृष्टि में साहित्य का स्वरूप संस्थात्मक है। जैसे अन्य सामाजिक संस्थाएँ अपने सदस्यों को दिशा-निर्देश करती हैं, उन्हें किन्हीं मूल्यों और आदर्शों के प्रति उन्मुख करती हैं वैसे ही साहित्यकार भी अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने पाठकों (सामाजिकों) को किन्हीं आदर्शों और

1. 'साहित्य का समाजशास्त्र' की भूमिका, पृष्ठ-41.

Scanned with CamScanner

मूल्यों के प्रति सचेष्ट करता है। साहित्यकार भी व्यक्ति और समाज के बीच अन्तस्सम्बन्ध स्थापित करता है। समाज की अन्य संस्थायें सीधे और स्पष्ट तरीके से अपनी बातें प्रेषित करती हैं, किन्तु साहित्यकार बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों आदि के माध्यम से अपने भाव और विचार व्यक्त करता है। मार्क्सवादी समीक्षा भी साहित्यकार को एक सामाजिक प्राणी मानकर चलती है। किन्तु वह कला और सामाजिक परिस्थितियों के अन्तस्सम्बन्धों की व्याख्या मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के आधार पर करती है। डॉ० मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य के समाजशास्त्र की वर्तमान प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है-- "आजकल साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की दो धारायें हैं। एक धारा में साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति की खोज होती है। उसे हम मीमांसावादी धारा कह सकते हैं। दूसरी में साहित्य की सामाजिक स्थिति का विवेचन होता है। वह अनुभववादी धारा है। मीमांसावादी धारा के अन्तर्गत मार्क्सवादी, आलोचनात्मक समाजशास्त्रीय, और संरचनावादी दृष्टियाँ सक्रिय हैं तो अनुभववादी पद्धति में पुरानी विधेयवादी दृष्टि के साथ-साथ संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टियाँ सक्रिय दिखाई देती हैं।"[1] उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्क्सवादी समीक्षा, समाजशास्त्रीय समीक्षा की एक धारा मात्र है। डॉ० नगेन्द्र ने पर्याप्त छानबीन के बाद साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की निम्नलिखित परिभाषा की है-- "कर्त्ता, कृति और पाठक के त्रिकोण-रूप साहित्य के सामाजिक परिवेश का विश्लेषण और संश्लेषण समाजशास्त्रीय अध्ययन है।"[2] वस्तुतः समाजशास्त्रीय समीक्षा स्वयं विकास के अनेक सोपानों से होकर आगे बढ़ी है। यही स्थिति मार्क्सवादी समीक्षा की भी है। यदि पूरे समाजशास्त्रीय चिन्तन को ऐतिहासिक भौतिकवाद की सीमा में नहीं लाया जा सकता तो समूची समाजशास्त्रीय समीक्षा को भी मार्क्सवादी समीक्षा की परिधि में नहीं लाया जा सकता, वह अवश्य है कि जैसे समाज के अनुशीलन का सही सिद्धान्त 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' को माना जा सकता है वैसे ही मार्क्सवादी समीक्षा को ही वास्तविक समाजशास्त्रीय समीक्षा कहा जा सकता है। हिन्दी में समाजशास्त्रीय समीक्षा सम्बन्धी विचार-विवेचन 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से आरम्भ हुआ। अब तो इस विषय से सम्बन्धित कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हो गयी हैं। श्रीराम मेहरोत्रा कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र' (1970 ई०), डॉ० नगेन्द्र कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र' (1982 ई०), डॉ० बच्चन सिंह कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' (1984 ई०), डॉ० निर्मला जैन द्वारा सम्पादित 'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन' (1986 ई०), तथा मैनेजर पाण्डेय कृत 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' (1989 ई०) इस विषय की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। अभी समाजशास्त्रीय दृष्टि से साहित्यिक रचनाओं का व्यवस्थित मूल्यांकन नहीं के बराबर हुआ है। मार्क्सवादी समीक्षा की एक दीर्घ परम्परा अवश्य कायम हो गयी है।

नया भावबोध : नयी समीक्षा

छायावादी काव्य-चेतना की उच्छ्वसित भावाभिव्यक्ति, इन्द्रधनुषी कल्पना-विधान एवं वैयक्तिक जीवन-दृष्टि की प्रतिक्रिया में जीवन-यथार्थ की अभिव्यक्ति पर बल देने वाली मार्क्सवादी जीवनदर्शन से प्रभावित प्रगतिवादी काव्य-चेतना भी हिन्दी के काव्य-संसार को अधिक प्रभावित नहीं कर सकी। कारण यह था कि उसमें राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति का आग्रह अधिक और

Scanned with CamScanner

कवित्व कम था। 1942-43 ई० तक आते-आते उसका आकर्षण कम होने लगा। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी था कि प्रगतिवादी काव्य को मार्क्सवाद के प्रति प्रतिबद्ध या उससे सहानुभूति रखने वाले रचनाकारों से एकाकार करके देखा जाता था और कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियाँ प्रगतिवादी काव्य-चेतना के प्रति हिन्दी-साहित्य-जगत् के रुख को प्रभावित करती थीं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने 1942 ई० की अगस्त क्रान्ति के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया था। यही नहीं, उसने मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों में संप्रभुता सम्पन्न राज्य की स्थापना के बारे में मुस्लिम लीग के लाहौर प्रस्ताव का समर्थन भी किया था। उस समय तक यह भी प्रकट हो चुका था कि प्रगतिवाद की सीमा में बँध कर चलने से काव्य की प्रकृत भूमि पर्याप्त संकुचित होती जा रही है। इस प्रकार 'छायावाद' और 'प्रगतिवाद' दोनों की सीमाओं से मुक्त होने पर अभिव्यक्ति के नये मार्ग का अनुसन्धान आवश्यक था। सम्भवतः इसीलिए 1943 ई० में 'तारसप्तक' के प्रकाशन के समय उसमें संगृहीत सभी कवियों को 'राहों के अन्वेषी' कहा गया। काव्य-यात्रा के क्रम में नयी राह के अन्वेषण का प्रश्न क्यों उठा? निश्चय ही उस समय तक युग-सन्दर्भ बदल चुका था। परम्परागत भाषा, छन्द, अलंकार-विधान, ध्वनियोजना, प्रतीक एवं बिम्ब नवीन युग की संश्लिष्ट-जटिल संवेदना का साथ नहीं दे पा रहे थे।

वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध ने विश्व मानव को नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य कर दिया था। पहले महायुद्ध के बाद से ही काल यास्पर्स (1883-1974 ई०) जैसे विचारक यह अनुभव करने लगे थे कि 'आधुनिक कल्याणकारी शासन के विशाल मशीनी संगठन में मनुष्य एक मामूली पुर्जा बन चुका है और वह 'निजी तत्त्व', 'अन्तरात्मा' और 'आध्यात्मिक धुरी' सब कुछ खोता जा रहा है।'[1] काल यास्पर्स अस्तित्ववादी विचारक था। यद्यपि सन् 1942-43 ई० तक हिन्दी-कवियों पर अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव नहीं पड़ा था किन्तु विज्ञान के बढ़ते प्रभाव और उसके परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों के केन्द्रीभूत होने, महानगरों के उगने तथा यांत्रिक सभ्यता की प्रभाव-वृद्धि के कारण मनुष्य के पदार्थीकृत होने की प्रक्रिया से जो नये भावबोध की सृष्टि हो रही थी उसकी जटिलता का अनुभव हिन्दी-कवियों को होने लगा था। 'तारसप्तक' के प्रमुख कवि 'अज्ञेय' ने 'अपने तत्कालीन वक्तव्य में जीवन की जटिलता', 'स्थिति-परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति', 'कवि की उलझी हुई संवेदना', 'विचार संयोजनाओं में विषमता', 'पाठकों की जीवन-परिपाटियों में वैषम्य', और इन सबके चलते 'साधारणीकरण' और 'कम्यूनिकेशन' (सम्प्रेषण) की समस्या का प्रश्न उठाया था। दूसरे, महत्त्वपूर्ण कवि मुक्तिबोध ने स्वीकार किया था कि '1938 से 1942 तक के पाँच साल' उनके 'मानसिक संघर्ष और वर्गसोनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे'। उन्होंने यह भी कहा था कि 'मानसिक द्वन्द्व उनके व्यक्तित्व में बद्धमूल है।' उन्होंने अनुभव किया था कि तत्कालीन जीवन 'वैविध्यमय', 'उलझन से भरा' और 'रंग-बिरंगा' था। इसी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए वे काव्य-प्रयोग कर रहे थे। तीसरे बड़े कवि गिरिजा कुमार माथुर तो 'तारसप्तक' को 'आधुनिक बोध' की काव्य-धारा की प्रथम समवेत अभिव्यक्ति मानते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि 'मंजीर' के प्रकाशन काल (अप्रैल, 1941) में ही आधुनिक बोध के अनुरूप नगरीय संवेदना इतिहास की सांस्कृतिक दृष्टि तथा भाषा, छन्द, बिम्ब और ध्वनि-विधान के नवीन रूपाकार की प्रस्तावना अपनी रचनाओं में वे कर चुके थे। उनका प्रस्ताव है कि 'आधुनिकता की प्रक्रिया का प्रथम उन्मेष 1940

Scanned with CamScanner

से 1952 तक मानना चाहिए और द्वितीय चरण 1953 से अब तक (1963)'। वे कहते हैं-- 'मेरी दृष्टि में प्रथम उन्मेष के प्रधान तत्त्व थे : परिवेश के प्रति गहरी जागरूकता, सामाजिक यथार्थ की चेतना, इतिहास का प्रथम बार तीव्र बोध, भाव-जगत् में सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं की पहचान, युद्धगत संक्रान्ति की मानवीय संवेदना, अन्तर्राष्ट्रीय उन्मुखता, नवरोमान और परिवर्तित मूल्यों की टकराहट। दूसरे चरण में -- निकटतम सत्यों की संवेदना, संक्रान्ति की विडम्बनाओं का अहसास, व्यंग्य और विपर्यय, मूल्यगत विकृति, आत्महीनता, जीवन की विसंगतियों (ऐब्सर्डिटी) की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिकता का उदय, अमिश्र अनुभूतियों का आस्वाद प्रमुख स्वर हैं।'[1] माथुर साहब का प्रस्ताव मान्य है या अमान्य हमें इस पर विचार नहीं करना है। यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि 1942-43 तक आते-आते हिन्दी के कवि तत्कालीन जीवन की जटिलता से उत्पन्न नये भावबोध का अहसास करने लगे थे और तदनुकूल अपनी कविता के संरचनात्मक ढाँचे में परिवर्तन की प्रक्रिया का आरम्भ कर चुके थे। उनके इस प्रयत्न का आरंभिक चरण 'प्रयोगकाल' और द्वितीय चरण 'नई कविता' का काल कहा जाता है। 'नई कविता' को सामान्यतः आधुनिक भावबोध की कविता माना जाता है। वस्तुतः 19वीं शती में यूरोप में जो अभूतपूर्व तकनीकी विकास हुआ, उसकी दो परिणतियाँ हुईं। एक ओर तो मनुष्य का यंत्रीकरण हुआ और वह अपनी अस्मिता खोकर 'पदार्थ' बन गया। दूसरी ओर पूँजी का केन्द्रीकरण हुआ और अनवरत शोषण की प्रक्रिया शुरू हुई, जिससे सम्पन्न और विपन्न के बीच खाई बढ़ती गयी। इसी शती में दो महान् विचारक सामने आए-- सोरेन कीर्कगार्ड (1813-1855 ई०) और कार्लमार्क्स (1818-1883 ई०) कीर्कगार्ड ने मानव अस्मिता का प्रश्न उठाया और 'अस्तित्ववाद' का प्रवक्ता बना। कार्लमार्क्स ने पूरी समाज-व्यवस्था को केन्द्र में रखकर सोचा और 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' का प्रवर्तक बना। बीसवीं शती में यूरोप को दो-दो महायुद्धों की ज्वाला में जलना पड़ा। इन युद्धों में मानव ने अपने को नितान्त नगण्य पाया। उसने अपने को अकेला, अजनबी, असहाय, संत्रस्त और टूटा हुआ अनुभव किया। उसने नैतिक मूल्यों की धज्जियाँ उड़ती देखीं। आस्था उसे वंचना प्रतीत हुई। उसने नगरों को श्मशान और संस्कृति के प्रतीकों को ध्वस्त होते हुए देखा। उसे मनुष्य पशु से भी नीच और हिंसक दिखाई पड़ा। उसने अनुभव किया कि मनुष्य के जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है और वह मृत्यु के लिए अभिशप्त है। इस परिस्थिति में 'अस्तित्ववादी दर्शन' अधिक प्रासंगिक हो उठा। कार्ल यास्पर्स (1883-1974 ई०), मार्टिन हाईडेगर (1889-1978 ई०) और जॉन पॉल सात्रे (1905 ई०) ने नये सन्दर्भ में इसकी व्याख्या की।

प्रयोग काल के बाद 'नयी कविता' (1954 ई० के बाद) के दौर में इस दर्शन से हिन्दी कवि प्रभावित हुए और उनकी रचनाओं में 'आधुनिक भावबोध' का प्रतिफलन साफ-साफ दिखायी पड़ने लगा। आधुनिक भावबोध का एक सकारात्मक पक्ष भी है। माना कि आज का मनुष्य यांत्रिक सभ्यता के दबाव से अपनी पहचान खो चुका है। वह निराश और उदास है। उसे अपनी लघुता और व्यर्थता का अहसास है और वह आज के विसंगति पूर्ण जीवन से मुक्ति का कोई मार्ग नहीं देख पा रहा है तो क्या उसका पुरुषार्थ गहन उदासी में डूब जाने और जीवन को निरुद्देश्य मान लेने तक ही सीमित है। मुक्तिबोध इसे नकारते हैं। वे कहते हैं--'मैं अपने खुद की जिन्दगी और दोस्तों की जिन्दगी के तजुर्बे से बता सकता हूँ कि अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द करना 'आधुनिक भावबोध' के अन्तर्गत है। 'आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य --

Scanned with CamScanner

निर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हों तथा हम वर्तमान परिस्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें, उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय-योजना करें।'[1] मानवता के भविष्य की स्थापना, विकृत स्वार्थवाद और भ्रष्टाचार के विरोध, सामाजिक सम्बन्धों में प्रेम और त्याग की भावना, अहंकार की उग्रता के विरोध, जैसी बुनियादी बातों को एक व्यापक जीवन-दर्शन में समाहित करके काव्य में उस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति भी की जा सकती है और इस प्रकार 'आधुनिक भावबोध' को गहन निराशा एवं निरुद्देश्यता के अंधकार से निकाल कर एक सकारात्मक जीवन-प्रक्रिया का रूप दिया जा सकता है किन्तु मुक्तिबोध भी यह अनुभव करते हैं कि वास्तविक जीवन-क्षेत्र में अनुभूत किये जाने वाले तड़पते-छटपटाते हुए 'भाव-संवेदनों को' नया कवि काव्य स्तर पर 'इसीलिए नहीं उठा पाता कि इन भाव-संवेदनाओं के अनुकूल तदनुसारी कलात्मक उपादान और संवेदनशील कलात्मक भाषा का विकास उसने नहीं किया है।'[2] तात्पर्य यह है कि 'प्रयोगकाल' से लेकर 'नयी कविता' की प्रतिष्ठा तक के दौर में नया कवि संवेदना के स्तर पर अनुभूत नये जटिल भावबोध (आधुनिक भावबोध) की अभिव्यक्ति के प्रयत्न में नये कलात्मक उपादानों और नई संवेदनशील कलात्मक भाषा को विकसित करता रहा और सब मिला कर 'नई कविता' जटिल और दीक्षागम्य हो गयी। सन् 1959 में श्री शिक्षायतन कालेज, कलकत्ता द्वारा 'आधुनिक साहित्य बोध' पर आयोजित एक परिसंवाद में नामवर सिंह ने कहा था-- 'जटिलता के प्रति आधुनिक साहित्यकार की यह आत्म सजगता ही आधुनिक साहित्य को पूर्ववर्ती साहित्य से अलग करती है और सम्भवतः उसे अपेक्षाकृत अधिक जटिल भी बना देती है।'[3] इस नये (आधुनिक) जटिल भावबोध और तदनुकूल जटिल कलात्मक उपादानों से युक्त संश्लिष्ट काव्यभाषा वाली नई कविता के समानान्तर 'नई समीक्षा' का विकास हुआ।

पश्चिम में यह प्रक्रिया बहुत पहले शुरू हो गयी थी। वहाँ काव्य-भाषा को ऐसा रूप देने का प्रयत्न किया गया था कि वह 'विचार काव्य' के स्थान पर 'वस्तु-काव्य' को प्रतिष्ठित कर सके। 'विम्बवाद', 'प्रतीकवाद', और 'धनवाद' जैसे आन्दोलन इसी प्रयत्न के परिणाम थे। आलोचना के क्षेत्र में टी० एस० इलियट (1888 से 1965 ई०) ने जब अपना प्रसिद्ध 'निर्वैयक्तिकता' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था तो उसने एक प्रकार से काव्यास्वाद की प्रक्रिया को वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ बनाने की ही कोशिश की थी। उसने कहा था--

"The progress of an artist is a continual self sacrifice, a continual extinction of personality. It is in this depersonalization that art may be said to approach the condition of science."[4]

स्पष्ट है कि उसके सामने कला को विज्ञान की स्थिति में लाने की चुनौती थी। विचार-पूर्वक देखा जाय तो 'नई समीक्षा' इसी चुनौती को स्वीकार करने की परिणति है। हिन्दी में जब जटिल अनुभूतियों वाली 'नई कविता' के विवेचन और मूल्यांकन का प्रश्न उठा तो छायावादी संस्कारों से युक्त सौष्ठववादी समीक्षा व्यर्थ सिद्ध हुई। परम्परागत शास्त्रीय प्रतिमानों में 'रस' अप्रासंगिक प्रमाणित हो गया। 'ध्वनि' और 'वक्रोक्ति' की उपयोगिता एक सीमा तक स्वीकार्य हुई किन्तु नये सन्दर्भ में

Scanned with CamScanner

Spingarn) ने 1911 ई० में 'नया समीक्षा' शीर्षक एक शोध-पत्र लिखा। यह शोधपत्र 1913 ई० में प्रकाशित हुआ। इस शोधपत्र में स्पिनगार्न ने 'क्लैसिकल', 'रौमैण्टिक', 'समाजशास्त्रीय', 'जीवनमूलक' आदि समीक्षा पद्धतियों को अस्वीकार करते हुए यह स्थापित किया था कि समीक्षा वस्तुतः एक प्रकार की वैयक्तिक प्रतिक्रिया है जो जीवन्त अन्तर्दृष्टि पर आधृत होती है।[1] आगे चलकर नये समीक्षकों ने स्पिनगार्न का दिया हुआ यह नाम स्वीकार कर लिया। 'निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि किस तिथि को नई समीक्षा का जन्म हुआ, किन्तु यह निश्चित है कि टी० एस० इलियट की 'दी सीक्रेड वुड' (1920 ई०) मिडलटन मरे की 'दी प्राब्लम आफ स्टाइल' (1922 ई०) और आई० ए० रिचर्डस की 'प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (1924 ई०) जैसी कृतियों के माध्यम से इसके आधार-तत्त्वों का विकास हुआ।'[2] कहना न होगा कि रिचर्ड्स और इलियट दोनों ही इस बात पर बल देते थे कि समीक्षक का ध्यान मुख्य रूप से कविता पर ही केन्द्रित होना चाहिए। दोनों ही इतर बातों से हटकर कविता के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन पर बल देते थे। आगे चलकर नये समीक्षकों ने जब रचना को पूर्णतः 'स्वायत्त भाषिक-संरचना' माना तो उन्होंने भी उसके भाषिक विश्लेषण पर ही बल दिया। सम्भवतः इसीलिए रिचर्डस को अमेरिका में 'नई समीक्षा' का जनक स्वीकार किया जाता है। 'नई समीक्षा' को पूर्णतः प्रतिष्ठित करने वाले जान क्रो रेनसम (John Crowe Ransom) ने कहा कि रिचर्डस से ही 'नई समीक्षा' की सही शुरुआत हुई।[3]

Scanned with CamScanner

विलियम एम्पसन (Willim Empson) ने तो अपनी पुस्तक 'दी स्ट्रक्चर ऑफ कम्पलेक्स वर्ड्स (the Structure of complex words), यह कहकर उसे समर्पित की है कि इसमें जो भी उद्भावनाएँ हैं, उसका आदि स्रोत वही हैं। सन् 1941 में जान क्रो रेनसम की 'नई आलोचना' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। यहीं से 'नई समीक्षा' को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। रेनसम के अतिरिक्त एलेन टेट (Allen Tate), राबर्ट पेन वारेन (Robert Penn Warren), आर०पी० ब्लैकमर (R.P. Blackmur), आइवर विंटर (Ivor Winters) और क्लीन्थ ब्रुक्स (Clenth Brooks), नये समीक्षकों में प्रमुख माने जाते हैं। इन सभी समीक्षकों ने 'कविता' पर ही पूरा ध्यान केन्द्रित करते हुए उसके भाषिक विश्लेषण पर बल दिया और उसकी अलग-अलग विशेषताओं को लक्षित किया। रैंसम के अनुसार-- 'कविता की रूप रचना में 'शब्द-विधान' (Texture) और 'अर्थ-विधान' (Structure) दोनों का संश्लेष होता है। शब्द-विधान 'बिम्बात्मक' होता है, अर्थ-विधान 'विचारात्मक'। इन दोनों का तनाव ही काव्य-भाषा को अपेक्षित भंगिमा प्रदान करता है। उसने लक्षित किया था कि इलियट की प्रसिद्ध कविता 'दी वेस्ट लैंड' में इसका अभाव है, जिसमें कविता का सौन्दर्य नष्ट हो गया है।'[1] टेट के अनुसार "कविता का अस्तित्व जिस 'संतुलन' पर स्थित होता है वह उसके बहिरंग संतुलन (Extension) और अंतरंग (Intension) के बीच घटित होता है। टेट ने यहाँ 'संतुलन' (Tension) शब्द का प्रयोग बहिरंग संतुलन (अभिधेयार्थ को प्रकट करने वाला) और अंतरंग संतुलन (लक्ष्यार्थ को प्रकट करने वाला) के मध्य पूर्ण सामंजस्य के अर्थ में किया है।"[2] राबर्ट पेन वारेन की ख्याति आलोचक से अधिक कवि और उपन्यासकार के रूप में है। फिर भी उसकी समीक्षा में संयम और विश्लेषण की प्रवृत्ति प्रधान है। उसने काव्य-भाषा में व्यंग्य, विरोधाभास और प्रतीक पर विशेष, बल दिया है। उसने कहा-- "कवि अपनी दृष्टि को 'आइरनी' की अग्नि में-- अर्थ-विधान के नाटकीय व्यापार में समर्पित करके अपने उद्देश्य की सिद्धि करता है और ऐसा वह इस आशा से करता है कि अग्नि में पड़कर वह शुद्ध हो जायेगी।"[3] ब्लैकमर ने सबसे अधिक महत्त्व 'जेस्चर' (Gesture) को दिया है। उसके अनुसार सांकेतिकता ही काव्य-भाषा का प्रधान गुण है, क्योंकि इसमें गति होती है। जहाँ अभिधा की भाषा समाप्त हो जाती है वहाँ सांकेतिक भाषा (Language of Gesture) कार्य करती है।[4] आइवर विंटर का दृष्टिकोण अन्य नये समीक्षकों से भिन्न है। वह स्वभाव से नैतिक था। नये समीक्षकों में उसकी गणना इसलिए की जाती है कि वह भी साहित्य-कृतियों की स्वतन्त्र सत्ता मानता है। और समीक्षा की विश्लेषण पद्धति का प्रयोग करता है। उसके अनुसार कवि अपनी भाषा में

Scanned with CamScanner

अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ का गूढ़ संश्लेष उपस्थित करता है। टेट की भाँति वह भी कविता की आवयविक एकता पर बल देता है और उसे शब्दों के अन्तस्सम्बन्धों का ऐसा गूढ़ संश्लेष मानता है जो अन्तर्वस्तु की तर्कपूर्ण योजना, स्वरों की सुसंयोजित गति, लय, सान्निध्य, विपर्यय आदि पर आधृत होता है।'[1] क्लीन्थ ब्रुक्स विसंगति (Paradox) को काव्य-भाषा का प्रधान गुण मानता है। उसके अनुसार विसंगति ही किसी कविता के संरचनात्मक ढाँचे का मूल आधार है। वह कहता है--'कविता की प्रविधि व्यंजनात्मक और अप्रत्यक्ष होती है और वह बिम्बों, रूपकों, प्रतीकों, चरित्रों, और स्थितियों के माध्यम से नाटकीय रूप में अर्थ-प्रकाशन करती है।'[2] नई समीक्षा के अन्य उन्नायक विलियम एम्पसन ने अनेकार्थता (ambiguity) को काव्य-भाषा का प्राण-तत्त्व स्वीकार किया। उसने अनेकार्थता के सात प्रकारों का उल्लेख करके उनका सम्बन्ध कविता में व्यक्त जटिल मनःस्थितियों और उनके विविध स्तरों से जोड़ा। इस प्रकार उसने रिचर्ड्स द्वारा आरम्भ किये गये अर्थ-तात्त्विक अध्ययन की परम्परा को आगे बढ़ाया। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नई समीक्षा के प्रतिष्ठापक और उन्नायक काव्य-भाषा के तात्विक विवेचन में एकमत नहीं है, किन्तु नई समीक्षा की मूल प्रतिज्ञा 'काव्य स्वतः वस्तु है' को लेकर उनमें पूर्ण सहमति है। 'नई समीक्षा' जिन आधारभूत बातों पर बल देती है वे निम्नलिखित हैं--

1- काव्य, भाषिक संरचना मात्र है, इसलिए भाषा के सर्जनात्मक तत्त्वों का विश्लेषण ही समीक्षा का मुख्य धर्म है।

2. ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, दार्शनिक एवं मनोविश्लेषणवादी समीक्षाएँ अनावश्यक एवं अप्रासंगिक हैं।

3. सम्प्रेषण और आस्वाद के प्रश्न पर विचार तथा मूल्यांकन का प्रयत्न आवश्यक नहीं है।

4. रचना की आन्तरिक संगति और संश्लिष्ट विधान के विवेचन विश्लेषण के लिए उसका गहन पाठ नितान्त आवश्यक है।

'नयी समीक्षा' की सीमाओं का बोध स्वयं अमेरिकी समीक्षकों को बहुत शीघ्र ही हो गया। 1952 ई० तक आते-आते 'शिकागो स्कूल' के आलोचकों ने आर० एम० क्रेन के नेतृत्व में नये समीक्षकों का विरोध किया। इन्होंने प्रमाणित किया कि 'नयी समीक्षा' के औजारों से छोटी कविताओं का विश्लेषण भले कर लिया जाय, किन्तु प्रबन्ध-काव्यों, नाटकों और कथाकृतियों की समीक्षा के लिए वे बहुत उपयोगी नहीं हैं। 'शिकागो स्कूल' के समीक्षकों की सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि यदि वस्तुपरक विश्लेषण द्वारा विज्ञान के समक्ष मानविकी की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त उत्साह में आलोचना गणित और विज्ञान बन जाती है तो इसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है। आलोचना मानविकी का ही एक विषय है। वैज्ञानिक बनाने के प्रयत्न में इसे इसकी मूल प्रकृति से अलग कर देना उचित नहीं है।''[3]

Scanned with CamScanner

'नयी समीक्षा' की भाँति कृति को स्वायत्त मानने वाली एक अन्य समीक्षा-पद्धति 'शैली विज्ञान' भी है। 'शैली विज्ञान' भाषिक विश्लेषण की वह वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें भाषा के सभी अभिव्यंजक उपादानों- ध्वनि-विज्ञान, छन्दशास्त्र, पद-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, शब्द-शास्त्र का समावेश किया गया है।[1] अपने विकसित रूप में 'शैली-विज्ञान' एक और अपने सिद्धान्त-तन्त्र की दृष्टि से 'भाषा-विज्ञान', 'संरचनावाद' और 'संकेतार्थ विज्ञान' (सिमिओटिक्स) से जुड़कर अपने को सम्यक् रूप में स्वरूपित कर पा रहा है तो दूसरी ओर प्रकार्य की दृष्टि से साहित्य-विश्लेषण और साहित्यालोचन की विशिष्ट प्रणाली के रूप में उपस्थित हो रहा है।[2] 'नयी समीक्षा' और शैली विज्ञान में अन्तर यह है कि 'शैली-विज्ञान' भाषा-विज्ञान का पूरा-पूरा आधार ग्रहण करके विश्लेषण में प्रवृत्त होता है, जबकि नयी समीक्षा ऐसा नहीं करती। उसमें 'विसंगति', 'विडम्बना', 'व्यंग्य', 'अनेकार्थता', 'संकेतार्थ', 'सन्तुलन', आदि जिन औजारों का प्रयोग किया जाता है वे भाषा-विज्ञान के औजार नहीं है। उनका सम्बन्ध काव्य-न्याय (लाजिक ऑफ पोयट्री) से है। कुछ भी हो, हिन्दी में शैली वैज्ञानिक आलोचना को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। प्रख्यात शैली वैज्ञानिक समीक्षक रवीन्द्र श्रीवास्तव द्वारा केदारनाथ सिंह की प्रसिद्ध कविता 'इस अनागत का क्या करें' की जो शैली वैज्ञानिक आलोचना की गयी है उसकी परीक्षा करने के बाद बच्चन सिंह कहते हैं-- 'स्पष्ट है कि विवरणात्मक शैली वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर वाक्यों, उपवाक्यों, संज्ञा, सर्वनाम, पद, पदबन्ध आदि के माध्यम से कविता की जो परीक्षा की गयी है वह उसकी शव-परीक्षा बन जाती है। इसमें जिस व्याकरण की सहायता ली गयी है वह कविता को छोटे-छोटे खण्डों में काट तो देता है पर उसे संश्लेषित नहीं कर पाता। इस व्यवच्छेदन-व्यापार से मूल्यांकन का सम्बन्ध निःशेष हो जाता है।'[3] यह टिप्पणी शैली वैज्ञानिक समीक्षा की सीमाओं को स्पष्ट कर देती है। शैली-वैज्ञानिक आलोचक रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव इसका प्रतिवाद करते हैं। वे कहते हैं-- 'काव्य कृति को स्वायत्त मानने का अर्थ है विश्लेषण और परीक्षा की आधारशिला तथा मूल केन्द्रक के रूप में स्वयं कृति की स्वीकृति। अतः आलोचक के लिए यह जरूरी है कि वह पहले इसी आधारबिन्दु से आगे बढ़े। पर दृष्टि की इस समग्रता की माँग को भी उसे नहीं भूलना चाहिए कि इस आधार-बिन्दु से ऊपर उठकर उसे साहित्यिक और सांस्कृतिक समग्रता की पृष्ठभूमि में रखकर कृति को एक संश्लिष्ट घटक के रूप में भी देखना है।'[4] वस्तुतः प्रश्न सिद्धान्त का नहीं, व्यवहार का है और व्यवहार के धरातल पर हिन्दी में शैली वैज्ञानिक आलोचना अभी अपनी मूल्यवत्ता प्रमाणित नहीं कर सकी है। शैली विज्ञान के साथ ही 'संरचनावाद' का

Scanned with CamScanner

उल्लेख प्रासंगिक है। संरचनावाद के अनुसार साहित्य शाब्दिक संरचना है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु कई घटक तत्त्वों के संश्लेष से निर्मित होती है। ये घटक एक ओर परस्पर सम्बद्ध होते हैं दूसरी ओर पूर्ण निर्मित (अवयवी) के साथ उनका संतुलित संश्लेष होता है। साहित्य शाब्दिक संश्लेष है। 'संरचनावाद' की अवधारणा का मूल स्रोत जेनेवा और पेरिस में भाषा-विज्ञान के प्रोफेसर फर्दिनांद डि सस्यूर (1857-1913 ई०) द्वारा प्रतिपादित भाषा-सिद्धान्त है। सस्यूर के अनुसार भाषा के दो रूप हैं। एक 'ल लांग' दूसरा 'ल परोल'। 'ल लांग' को अन्तर्वैयक्तिक भाषा-व्यवस्था कह सकते हैं। 'ल परोल' को व्यक्ति-विशेष की भाषा कहा जा सकता है। 'लांग' अन्तःसम्बन्धित प्रतीकों की ऐसी सामान्य व्यवस्था है जो पूरे समाज में वैचारिक सम्प्रेषण सम्भव बनाती है। यह व्यवस्था भाषा समुदाय के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य है। 'परोल' का क्षेत्र सीमित है। व्यक्ति-भेद से उसका रूप बदल जाता है। 'क' का 'परोल' 'ख" से भिन्न होगा। 'परोल वैज्ञानिक' होने के साथ ही स्वच्छन्द और परिवर्तनशील भी है। उसका वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। 'लांग' के ही नियमों से 'परोल' नियंत्रित होता रहता है। 'परोल' (व्यक्ति भाषा) के रूप में ही 'लांग' खंडशः मूर्त्त होता है। 'परोल' के आधार पर भाषा के नियमों का अनुसंधान ही 'संरचना' है। प्रसिद्ध नृतत्ववेत्ता लेवी स्त्रॉस ने इसी सिद्धान्त को मिथकों के अध्ययन पर लागू किया। उसके अनुसार मूलमिथक 'लांग' है तो उसके अलग-अलग रूप 'परोल'। मिथक के अलग-अलग रूपों के अध्ययन के बल पर मूल मिथक से सिद्धान्त स्पष्ट किये जा सकते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को रोलॉवार्थ ने प्रश्रय दिया। 'संरचनावाद' के अनुसार हमें साहित्यिक कृति को एक विशिष्ट एकता से युक्त सम्पूर्ण संरचना के रूप में देखना-चाहिए। यह सम्पूर्ण संरचना पर्त-दर-पर्त इतनी जटिल होती है कि इसे अंगभूत उप संरचनाओं-- ध्वनि, छन्द, बिम्ब, पदविन्यास आदि के गुंफ के रूप में देखा जा सकता है। कृति विशेष की जटिल संरचना के विश्लेषण से प्राप्त सिद्धान्तों के आधार पर अन्ततः साहित्य मात्र की रचना के मूल सिद्धान्तों का अन्वेषण 'संरचनावाद' का लक्ष्य है। इसके साथ ही संरचनावादी उन मानसिक क्रियाओं का अन्वेषण भी करना चाहते हैं जो कृति विशेष को पढ़ते समय उसे समझने के प्रयत्न में पाठकों द्वारा (आम तौर पर अनजाने ही) निष्पादित होती है। यह होने पर भी 'संरचनावाद' के लिए रचना केवल शाब्दिक या भाषिक संरचना है। इसलिए रचनाकार के वैचारिक भावात्मक अभिप्राय का विवेचन संरचनावाद के अन्तर्गत नहीं आता।[1] ऐसी स्थिति में सब मिलाकर 'संरचनावाद' का झुकाव रूपवाद की ओर होना स्वाभाविक है। हिन्दी में अभी इस सिद्धान्त की सैद्धान्तिक चर्चा मात्र आरम्भ हुई है। किसी रचना का संरचनावादी सिद्धान्तों के आधार पर विश्लेषण करके उसके निहितार्थ को स्पष्ट किया गया हो, ऐसा देखने में नहीं आया।

हिन्दी में 'नयी समीक्षा' ठीक उसी रूप में नहीं आई जिस रूप में अमेरिकी नये समीक्षकों ने उसे प्रतिष्ठित किया था। हिन्दी के नये समीक्षकों ने काव्य के सन्दर्भ में भाषा के महत्त्व को स्वीकार किया। उसकी सर्जनात्मक विशेषताओं को लक्षित करने की चेष्टा की। कवि के अनुभव-संसार के विस्तार और भाषा-संसार के प्रसार की समानान्तरता का निरूपण किया। काव्य-भाषा के सन्दर्भ में बिम्बवैविध्य, तनाव, विसंगति और विडम्बना के महत्त्व को स्पष्ट करने की कोशिश की। शब्द-प्रयोग एवं ध्वनि-संयोजन से उत्पन्न चमत्कार को सराहा। काव्य के रूप-पक्ष और संवेद्य-तत्त्व की संश्लिष्टता को स्वीकार किया। रचनाओं के गहन पाठ को महत्त्व दिया किन्तु कविता को पूर्णतः ऐतिहासिक

Scanned with CamScanner

सन्दर्भ से काटकर देखने के आग्रह को अस्वीकार कर दिया। हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षकों ने भी रचना की स्वायत्तता को सम्मान देते हुए उसकी 'सापेक्षिक स्वायत्तता' का प्रतिपादन किया और रूप तत्त्व के विवेचन के महत्त्व को स्वीकारा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि डॉ० रामविलास शर्मा जैसे प्रखर मार्क्सवादी समीक्षक ने भी 'निराला' की समीक्षा करते हुए उनके काव्य-शिल्प का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने 'निराला' की कविताओं को उदाहृत करते हुए उनकी रचना-पद्धति का विश्लेषण किया है। स्थापत्य की सराहना की है। स्थापत्य के नियामक तत्त्वों-- विवेक और स्वप्न दृष्टि— को लक्षित किया है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को ग्रहण करने वाली वृत्तियों के आधार पर उनकी कविताओं के मूर्ति-विधान की व्याख्या की है तथा उनकी प्रतीक-योजना, संश्लिष्ट बिम्ब-रचना, अनुप्रास-प्रेम, ध्वनि-प्रवाह, स्वर-साधना, शब्द-योजना, छन्द-विधान, अलंकरण, अर्थ-चमत्कार, गीति रचना-कौशल आदि की विस्तृत समीक्षा की है। यहाँ स्मरणीय है कि डॉ० शर्मा मूलतः रचनाकार की विचारधारा की परख करने वाले समीक्षक रहे हैं। 'निराला' के शिल्प का विवेचन उन्होंने निराला की काव्य-भाषा के गहन और गम्भीर अध्ययन के आधार पर ही किया है। काव्य-भाषा के गहन पाठ की यह प्रेरणा उन्हें 'नई समीक्षा' के व्यापक प्रभाव से प्राप्त हुई हो तो आश्चर्य नहीं।

— 0 —

Scanned with CamScanner